

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 07, अंक : 28, अक्तूबर-दिसंबर 2020

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक



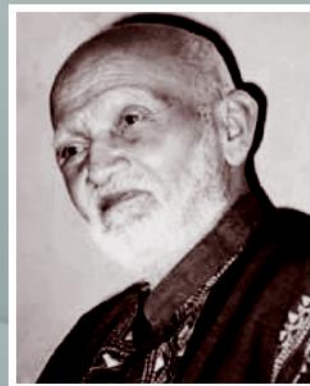
विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

उस पार से ...

बाज़ार से कबीर चले गए

कबीरदास
उठे और घूम आए
चमरौटी तक ।
जहाँ पीट रहा था आदमी
अपनी 'कुलच्छनी' पत्नी को ।
कबीरदास ने
आदमी को दी
पत्थर की नाव और
कहा : 'नदी पार कर लौटना
तब तक कुलटा या कुलच्छनी
आँगन बुहार लेगी
कपड़े फीच लेगी
रोटी पो लेगी
और तुम्हारा इंतज़ार करती रहेगी... ।
आदमी ने
पत्थर की नाव पानी में उतारी
पर नाव जलसमाधि लेने लगी
उसके साथ...
कबीरदास को
मैंने देखा
मुख्य चौराहे पर चौपड़ बिछा रहे थे ।
हँसा मैं :
'यह अरघ-उरघ बाज़ार है कबीर ।'
कबीर खूब हँसे
चौपड़ पर गोटी नहीं
एक आदमी था, दूसरी थी औरत ।
दोनों का खेला
बाज़ार में देख रहे थे बेज़ुबान लोग !
कबीरदास ने कहा :
'खेलो तुम भी, हाँ विचार कर खेलना ।'
देखते-देखते सब,
कबीर बाज़ार से चले गए दूर...।



विष्णुचंद्र शर्मा

(01 अप्रैल 1933 - 02 नवंबर 2020)

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-7, अंक- 28, अक्टूबर-दिसंबर 2020

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पाण्डेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
 आकल्पक : लखनपति झा

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

प्रो. मंजू रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन

प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात

प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय

डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)

डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज

डॉ. शुभा उपाध्याय : खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, बर्मिंघम (यू.के.)

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय

डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय

रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर

निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल

रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

रीता सिन्हा : हिंदी विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय

सहाम होसैन : (सहायक प्राध्यापक), पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 0332675 1686, 09831497320,
 9681105070

ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनीता लाल, विनोद यादव, पार्वती शॉ, प्रभा उपाध्याय,
 गुड़िया राय एवं अनुभव सिन्हा।

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
 BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
 IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
 कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक- 50 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 200 रुपये, आजीवन-2000 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-250 रुपये, आजीवन-2500रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229

मनीष कुमार सिन्हा (दिल्ली) : 9716927587

कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003

अवस्थिति

शोध	6	संस्तुति आलेख	
	8	डॉ. ऋषिकेश राय	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सौंदर्य बोध के स्तर
	11	शंभु गुप्त	लेखन-कर्म एक जीवन-व्यापी शोध है (महत्व : पानू खोलिया)
समीक्षा	18	शशिभूषण द्विवेदी	ज्ञानानुशासनों का जोर और बिना दिन की दैनंदिनी
	23	सोनम सिंह अनुशीलन	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी आलोचना
	30	डॉ. चुम्मन प्रसाद	दिनकर के काव्य में सर्प-बिंब
	35	डॉ. पुनीता कुमारी	स्त्री-विमर्श की दृष्टि से बंग-महिला के साहित्य का महत्व
		विमर्श	
सृजन	41	श्रीनारायण पाण्डेय	रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल का मध्यकालीन साहित्य विमर्श
		संस्मरण	
	45	पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	नगेंद्र : सैद्धांतिक आलोचना के मनीषी महेंद्र!
	53	मीना सिंह	भूख के पंजे
		शोधार्थी की कलम से	
संचार	63	जय प्रकाश साव	नागार्जुन के उपन्यास और हाशिए के लोग
	68	पीयूष कुमार	राजेश जोशी की आलोचना-दृष्टि
	72	चंदन साव	जातीयता के विरुद्ध कबीर का संघर्ष
	78	डॉ. कंचना कुमारी	दुष्यंत कुमार की कथा-भाषा एवं संवाद-शिल्प
		समय की शिला पर	
	84	बोधिसत्त्व कविता	साहित्यकार की सामाजिकता
	93	शैलेंद्र शांत	जाने क्यों!, विश्वास, मुखे नेई रे हाँसी!, मगर चलने की शर्त पर, कविता, रात को भी सहने होते हैं आघात!

शोध	94	जितेन्द्र धीर	खरी बात सबको लगती है, क्या अब भी कुछ कहना भाई.....
	95	श्याम सुंदर तिवारी	गीत-1, गीत-2, गीत-3, गीत-4
	96	सुशांत सुप्रिय	खो गई चीजें, स्वप्न, वे जो वगैरह थे, जब तक, यहीं रहूँगा मैं
समीक्षण	97	डॉ. सारदा बैनर्जी	कोरोना वायरस और मनुष्य, हरियाली कहाँ मिलेगी, कालसर्प दोष
		सरगम के सुर साधे	
	98	दिविक रमेश	कविता-लोक और मेरी कविताओं की दुनिया तथा दुनियादारी
		कहानी	
	102	सिद्धेश	लॉकडाउन
सृजन	104	रंजना अरगडे	पीछे खड़ी कौन... मनजीत...सुनेत्रा या दमयंती...!
	112	सुमन भाटी	खिड़की में चाँद
		साक्षात्कार	
	122	मो. हारून रशीद खान	जहाँ आप पहुँचे छलांगें लगाकर, वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे : रामदरश मिश्र
		प्रवासी कलम	
संस्कार	133	डॉ. वंदना मुकेश	ग्लोबल वार्मिंग, यात्रा, शाम जिंदगी की
		यात्रा-वृत्तांत	
	135	विनोद साव	बिभूति बाबू का घाटशिला
संस्कार		पुस्तकायन	
	141	उषा वर्मा	पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों को मानवीयता के बिंदु पर मिलाती हुई कृति : वेणु की डायरी
	144	अनवर सुहैल	समय के दुष्पक्र को भेदती कविताएँ
	148	डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी	समाज की यात्रा करने वाली कहानियाँ
	152	जितेन्द्र कुमार	श्रमशील समाज के प्रति गहरी संवेदना

संस्तुति

इस वर्ष के अहाते से निकलते हुए मुक्तांचल का यह अंक जद्दो-ज़ेहद की एक कठिन मंजिल तय कर रहा है। दुनिया भर में छा गई महामारी की तबाही ने पूरे समय को विषाद की अंधेरी सुरंग में डाल दिया, दुःस्वप्न, आशंका और त्रास के इस माहौल में सुनहरी रोशनी की जमीन ढूँढ़ते हुए हम यहाँ तक आकर ठिठक गए हैं। दुख और परिताप के ओर-छोर से गुजरती पटरियाँ एक सही मुकाम पहुँचने की उम्मीद में विश्वास के क्षरण को रोका है। मनुष्य मनुष्यता को सुरक्षित करने की पहल में हम सभी और भी सबलता से जुट रहे हैं। विश्व संकट से आक्रांत मनुष्यता के इस विषम दौर में असमय ही काल-कवलित हो गए प्रियजनों के अवसान पर मुक्तांचल परिवार मर्माहत है और उनके प्रति अपनी गहरी संवेदना व्यक्त करता है।

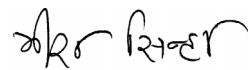
विद्यार्थी मंच द्वारा संयोजित शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार की यात्रा कभी रुकेगी नहीं, बल्कि उम्मीद है कि बेहतरी की ओर ही बढ़ती रहेगी। संदर्भ अगर मुक्तांचल का है तो यह पत्रिका एक मुहिम है और मुहिम कभी रुकती नहीं, निरंतर अपना रास्ता ढूँढ़ ही लेती है और जोड़ने-जुटाने का काम करती रहती है। इस बल पर कि उसके पास एक सैद्धांतिक आधार है जो विचार और विमर्श से पुख्ता होकर एक 'विजन' बन गया है। जब एक 'विजन' बनकर तैयार हो जाता है तो उसके टूटने-बिखरने का जोखिम खत्म हो जाता है। व्यक्ति बदल सकता है - अपने मुहिम के केंद्र से छिटककर बिखर सकता है, लेकिन विजन के रूप में अवस्थित एक परिकल्पना अपनी जगह जगमगाती स्थिर रह सकती है/रहती भी है।

कोई भी व्यवस्था, क्रिया-कलाप, घटना-परिघटना या 'फेनोमेना' का औचित्य या अनौचित्य किसी के लिए उसकी रुचि या बोध के आधार पर तय होता है। अनौचित्य का बोध आपको कहीं और चलने की सिफारिश करता है - "चलो यहाँ से चलें और उम्र भर के लिए।" तो फिर जाएँ कहाँ? चलिए माहौल ही बनाएँ - बस इतना ही कि - एक विकल्प व्यवस्था का स्वरूप काबिज कर सकें। आज साहित्य और संस्कृति, शिक्षा और संस्थान हर तरफ बाजार का सुरसा-मुख व्यक्तिगत स्वार्थ और लोलुपता से खुला हुआ है। किसी भी कीमत पर कुछ

भी पा लेने को आतुर मन 'अंधेर नगरी' का गोवर्धन दास गुरु बन जाता है और अपनी जान संकट में डाल लेता है। ढोल-नगाड़ों, पुरोहितों, ब्रांडों, स्रोतों, रसूखातों, सिफारिशों की अंधेर नगरी से गुजरता गोवर्धन दास अपना मूल्यबोध खो बैठता है और बदले में अर्जित कर लेता है वह मिलिक्रियत, जिससे वह 'पुरस्कार' और 'प्लेसमेंट' की तिकड़म का सरगना बन जाता है। तिकड़म की संस्कृति से मुक्ति 'विद्यार्थी मंच' का परम लक्ष्य है। हम 'डिजर्व' करेंगे तो पा लेंगे, सिफारिश और चाटुकारिता दोनों से दूर रहकर हम कामयाब हो लेंगे, दृढ़ विश्वास, हताशा और निराशा पर भारी पड़ता है।

इस वर्ष से विद्यार्थी मंच अपने लक्ष्य पर और भी दृढ़ कदम रख रहा है। शोध एवं समीक्षण को बल देने के लिए वह 'गाथा प्रकाशन' के द्वारा एक अभियान शुरू कर रहा है, जिससे स्तरीय शोध को प्रकाशित किया जाएगा और प्रत्येक प्रकाशन पर चर्चा चलाई जाएगी। ऐसा बहुत कुछ जो आज भी अंधेरे में कहीं जमींदोज है उन्हें ढूँढ़ कर लाना होगा, प्रकाशमान करना होगा, अकादमिक जगत में श्रम और संघर्ष से विवेक और चेतना के साथ हम ईमानदारी की संस्कृति का विस्तार करने के लिए कटिबद्ध हैं। इसी कटिबद्धता के तहत हम 'गाथा प्रकाशन' के आरंभ की उद्घोषणा कर रहे हैं। आप सभी के सहयोग एवं भागीदारी का सादर स्वागत है।

'मुक्तांचल' का आगामी वर्ष अपने चार अंकों में से तीन को विषय केंद्रित अंक के रूप में प्रस्तावित करता है। दो विशेष अंकों में जनवरी-मार्च 2021 का 29वाँ अंक रेणु जन्म शताब्दी के अवसर पर 'रेणु साहित्य' पर केंद्रित होगा। इस अंक के अतिथि संपादक हैं नवोदित अलोचक डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय। 30वाँ अंक (अप्रैल-जून 2021) 'व्यंग्य साहित्य' पर केंद्रित होगा और इस अंक के अतिथि संपादक होंगे सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार एवं कथाकार डॉ. पंकज साहा। 31वाँ अंक जुलाई-सितंबर 2021 के लिए हम हिंदी साहित्य लेखन 'कलकत्ता से कोलकाता तक' विषय की प्रस्तावना दे रहे हैं। आशा है सुधी लेखक, शोधार्थी एवं अध्येता विषय को सर्जनात्मक रूप देंगे। इस विशेष अंक के प्रारूप पर सुझाव आमंत्रित किया जाता है, सभी अंकों में 'मुक्तांचल' का कलेवर पत्रिका का ही होगा - पुस्तक का नहीं अर्थात् इसका आंतरिक ढाँचा तथा समस्त स्तंभ यथावत रहेंगे।



संपादक

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सौंदर्य बोध के स्तर

डॉ. ऋषिकेश राय

आचार्य द्विवेदी ने मध्यकालीन साहित्य एवं संस्कृति पर विशद चिंतन किया है। उनके इस बहुविध परक और बहुआयामी चिंतन में साहित्य, संस्कृति और कलाओं को समझने एवं आशंसा की एक स्थित दृष्टि अनुस्यूत है। इस प्रक्रम में वे सौंदर्य शास्त्रीय पहलूओं का भी समावेश करते चलते हैं। प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद और कालिदास की लालित्य योजना जैसी कृतियों में उन्होंने भारतीय सौंदर्यशास्त्र के परंपरागत प्रतिमानों और कलात्मक मूल्यों को भारतीय संस्कृति और लोक जीवन के धरातल पर चित्रित एवं विवेचित किया है। 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' पुस्तक पहले भारत के कला विलास के नाम से लिखी गई थी। इस कृति का भारतीय इतिहास में बोध की परंपरा के उदय की दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। उनसे पूर्व कुमार स्वामी ने भारतीय कला चिंतन परम्परा की विशिष्टता उसके पारलौकिक दृष्टिकोण एवं आध्यात्मिक मनोभूमि से सौंदर्यशास्त्रियों को परिचित कराया था। सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन की इस भूमिका से आचार्य द्विवेदी परिचित थे और इस परंपरा को सामाजिक सत्य के परिप्रेक्ष्य से जोड़कर विकसित करना चाहते थे। इस प्रयोजन हेतु उन्होंने परंपरा के जीवंत तत्वों की पहचान करने के अलावा उनका सार्थक पुनर्मूल्यांकन भी किया। कला दृष्टि और सौंदर्यबोध के स्तर में उन्नयन के लिए आचार्य द्विवेदी ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास के कतिपय बिंदुओं का समावेश किया। यह उनका इस दिशा में किया गया अभिनव योगदान है। आर्य एवं आर्यतर संस्कृतियों के संघात एवं संश्रय से सौंदर्यबोध के न्ययतर तत्व विकसित हुए। इन तत्वों की पहचान एवं उनके सौंदर्यपरक मूल्यों की विवेचना आचार्य द्विवेदी का विलक्षण कृतित्व है।

भारतीय संस्कृति की सामासिकता में आर्य, द्रविड़ एवं नाग संस्कृति का अवदान विशेषतया उल्लेखनीय है। भारतीय कला एवं सौंदर्य चेतना इन तीनों स्रोतों का समवेत दाय है। शुद्धतावादी दृष्टि से परंपरा की अखंडता और एकात्मिक स्वरूप पर जोर नहीं दिया जा सकता। इस महान मिश्रण को वे 'अशोक के फूल' में रेखांकित करते हैं। 'देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है।

संस्कृति की यात्रा न जाने कितने ग्रहण और त्याग की शृंखलाओं का परिणाम है। इतिहास की द्वंद्वतात्मक परिस्थितियों का पर्यावलोकन करने के कारण आचार्य द्विवेदी शुद्धता और खांटीपन की अवधारणाओं से सम्मति नहीं रखते। संस्कृति की

गतिशीलता और मनुष्य की अपराजेय जिजीविषा में उनकी दृढ़ आस्था है। काल के अजस्र प्रवाह में चलने वाली प्राणधारा के सर्जनात्मक उन्मेष के तो वे जैसे चिर साक्षी हैं। उनकी इस रससिक्त एवं मानवीय सहानुभूति से परिपूर्ण भावधारा का सर्जनात्मक प्रसाद है। प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद कालिदास की लालित्य योजना और उनके भावापन्न ललित निबंध। इन कृतियों को गढ़ने वाली मनीषा में जीवन की कालीदासीय लय, उदार सौंदर्य दृष्टि, कविगुरु की महामानव संबंधी विचारणा, शैवागमों की गतिशील चिंतन सिसृक्षा और लालित्यक का अद्भुत समन्वय है। आचार्य द्विवेदी में लोकजीवन के प्रति उत्कट अनुराग है। लोक के जीवंत एवं सहज-प्राकृतिक अनुभव, उसकी परंपरा और संस्कृति के तत्वों की सांगीतिक उपस्थिति उनके संपूर्ण साहित्य में एक धुन की तरह विद्यमान है। लोक संस्कृति का सहज प्रवाह एवं नैसर्गिकता ही उन्हें वह शक्ति प्रदान करती है, जिसके सहारे वे शुद्धता के जड़तापूर्ण आग्रह और प्रतीक पूजा की निरर्थक परंपरा का प्रत्याख्यान करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्यता की जययात्रा ग्रहण और त्याग के विवेक से वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। मनुष्यता की इस निर्मम जीवनी शक्ति को रेखांकित करते हुए आचार्य द्विवेदी ने आधुनिकता के मोहपाश में आबद्ध वर्तमान मनुष्य को परंपरा की प्राणशक्ति से परिचित कराया। परंपरा के दायरे को विस्तार देते हुए उन्होंने इसके घेरे में वैदिक के अलावा श्रमण तत्वों का भी अंतर्भाव किया। मध्यकालीन साहित्य पर चिंतन करते हुए उन्होंने नाथ पंथ और वनजीवी योगियों तक के साहित्य और तत्संबंधी प्रस्थापनाओं को सहानुभूतिपूर्वक अपने विवेचना क्रम में स्थान दिया। उनका एक अन्य मौलिक अवदान है, भक्ति को स्वकीय परंपरा के नैसर्गिक विकास के रूप में

रेखांकित करना। कृष्ण भक्ति काव्य को भी सूफियों के प्रेमाख्यानों से प्रभावित बताने की समीक्षकीय परिपाटी का कभी उन्होंने युक्तिसम्मत खंडन किया। सूरदास की सौन्दर्य चेतना के पारंपरिक भारतीय स्रोतों की तलाश करते हुए इसे उन्होंने कालिदास की प्रियेषु, सौभाग्यफला हालाँकि चारुता में निहित सौंदर्यदृष्टि का स्वाभाविक विकास घोषित किया।

जयशंकर प्रसाद ने विचार क्रम में संस्कृति के विकास को सौंदर्य बोध के विकास से संबद्ध किया है। 'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर सिंह ने इस संदर्भ में लिखा है, हमारी परंपरा में जो भी सुंदर है, वह आर्य नाम से प्रचारित मिथक से भिन्न है। नैतिकतावादियों को प्रत्युत्तर देने के लिए प्रसाद ने यदि सुंदर की परंपरा को अपनी ही परंपरा के रूप में निरूपित करने का प्रयास किया तो हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे अपनी ही परंपरा के अंदर आर्यतर तत्वों के अभिन्न मिश्रण के रूप में विवेचित किया। एक ही बिंदु पर मिलती है 'थोथे नैतिकतावाद के विरुद्ध सुंदर की प्रतिष्ठा।' (दूसरी परंपरा की खोज पृ. 91)

आचार्य द्विवेदी कला संस्कृति में आर्यतर तत्वों को सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण से शामिल करते हैं। इतिहास की सर्जनात्मक व्याख्या क्रम में वे साहित्यिक एवं कलात्मक समृद्धि में इन तत्वों की भूमिका को अभिस्वीकृति प्रदान करते हैं। वे कलात्मक सौंदर्य को महत्व देते हैं, उच्छृंखल सौंदर्य को नहीं। यह उनकी परिष्कृत सौंदर्याभिरुचि और प्रौढ़ कलात्मक प्रवणता की सूचक है। वे प्रेम और सौंदर्य में सामंजस्य के आकांक्षी हैं। प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद में वे लिखते हैं, थोथी विलासिता में केवल भूख रहती है- नंगी बुभुक्षा पर कलात्माक विलासिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है। सो कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता। उपर्युक्त

पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेम की कलात्मकता की कितनी गहरी पहचान आचार्य द्विवेदी को थी। इसी दृष्टि के कारण वे सूर और मीरा की कलात्मक प्रेमाकुलता के प्रति न्याय कर पाते हैं। अपने उपन्यासों में वे प्रेम के रोमांटिक आवेग का चित्रण तो करते हैं, परंतु ऐसा करते समय उसे वे शास्त्रीय गरिमा से मंडित करते हैं और अदभुत कलात्मक संयम का प्रदर्शन करते हैं।

आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों में कलात्मक सौंदर्य का अप्रतिम निदर्शन मिलता है। संयम एवं विवेक के साथ सौंदर्य और सृजन का सुंदर सामंजस्य इनमें दिखाई पड़ता है। मर्यादा का सम्मान करने की उदात्तपूर्ण अवधारणा उनमें आद्यंत गुंफित है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार सुंदर की रक्षा और सम्मान करने की कला न जानने वाली जाति कलात्मक विलास का

सुखोपभोग करने की अधिकारिणी नहीं होती। इस कलात्मक सौंदर्य में भी कुछ जड़ नैतिकतावादियों ने अश्लीलता का संधानकर लिया है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि नैतिकता समाज सापेक्ष होती है और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करती है। मातृसत्तात्मक समाजों में नैतिकता की परिभाषा पितृसत्ता द्वारा नियंत्रित नहीं होती। मुक्तिबोध ने भी लिखा है कि वर्गविहीन समाज में रोमांस के जीवन मूल्य व्यक्तिगत नहीं, वरन् सामाजिक थे। समाज में वर्गों के मजबूत होने पर इन मूल्यों का निर्धारण पितृसत्ता द्वारा होने लगता है। नैतिकता और मर्यादा को नए सिरे से परिभाषित कर वर्जनाओं का संहिताकरण किया जाने लगता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति विविध भी है और जटिल भी।

संपर्क : ऋषिकेश राय - उपनिदेशक, राजभाषा, टी- बोर्ड इण्डिया, 14, ब्रेबोर्न रोड, कोलकाता-700001, मो. : 9903700542

लेखन-कर्म एक जीवन-व्यापी शोध है

(महत्व : पानू खोलिया)

शंभु गुप्त

पानू खोलिया हिंदी की साठोत्तर कथा-पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार रहे हैं। उत्तराखंड के अल्मोड़ा जिले के देवली गाँव में सन 1939 में जन्मे 81 वर्षीय पानू जी का निधन अभी 1 जनवरी 2020 को ईश्वर विहार, मल्ली बामौरी, हल्द्वानी में स्थित अपने निवास पर हुआ। वे लम्बे समय से बीमार चल रहे थे। अपने पीछे वे पत्नी, चार पुत्रियाँ व एक पुत्र छोड़ गए हैं। भारतीय साहित्य को समृद्ध करने में पानू खोलिया का अप्रतिम योगदान रहा है।

पानू खोलिया जब बी. ए. में थे तभी से कहानी लिखना शुरू कर दिए थे। उनकी पहली कहानी 'सीमांत से आगे' अल्मोड़ा नगर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'समता' के स्वाधीनता विशेषांक में 1955 में छपी थी। तब से लेकर मृत्युपर्यंत उनका लेखन-कार्य निरंतर जारी रहा। अपने लेखन-कार्य के प्रति अप्रतिहत और अद्वितीय समर्पण उनमें देखा गया। आत्मश्लाघा और आत्ममुग्धता से उनका दूर-दूर तक कोई नाता नहीं रहा। लेखन-कार्य के प्रति उनमें कितनी ललक और तत्परता थी, इस बात का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि राजस्थान की नौकरी (प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिरौही) से सेवानिवृत्त होने के बाद जब वे अपने गृहराज्य उत्तराखण्ड (हल्द्वानी) में स्थायी तौर पर रहने लगे तो 1996 में उत्तराखंड के सर्वप्रमुख विश्वविद्यालय- 'कुमाऊँ विश्वविद्यालय' के कुलपति पद का ऑफर उन्हें दिया गया था, जिसे उन्होंने यह कहते हुए विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया था कि उन्हें ज्यादा से ज्यादा अपने लेखन पर ध्यान देना है! कुलपति जैसे पद को ठुकरा देना कोई मामूली बात नहीं; जिसके लिए लोग अपना ईमान तक बेचने, नेताओं-मंत्रियों की जी-हुजूरी तक करने से भी नहीं हिचकते। उनकी मृत्यु के पश्चात 'हिंदुस्तान' (हल्द्वानी संस्करण) में 2 जनवरी को प्रकाशित अपनी एक खबर में सुमित जोशी ने यह सारा विवरण दिया है।

पानू खोलिया के प्रकाशित साहित्य का ब्यौरा निम्नानुसार है-

1. कहानी-संग्रह - एक किरती और (1968), अन्ना (1981), दंडनायक (1986)
2. उपन्यास - सत्तर पार के शिखर (1978), टूटे हुए सूर्यबिंब (1980), वाहन (2014), मुझे मेरे घर जाने दो (2017)

पानू खोलिया का प्रकाशनाधीन कथा-साहित्य - कालू कलबंसिया (उपन्यास), तौक (उपन्यास), प्रतिनिधि कहानियाँ (कहानी-संग्रह), विपरीत धार तथा अन्य कहानियाँ (कहानी-संग्रह)

पानू खोलिया का अप्रकाशित साहित्य - अपनी ही राख से पुनर्जीवित होना (आत्मकथा), जो अपने थे (उपन्यास), ओना मासी धम (उपन्यास), नन्हें पाँवों के छापे (उपन्यास), जोग (उपन्यास), ठिठुरन (कहानी-संग्रह), पिछवाड़े की गुनो (कहानी-संग्रह), बरगद (कहानी-संग्रह), सौंदर्यशास्त्र में विकर्षक की भूमिका (आलोचना), हिंदी कथा-विमर्श (आलोचना), लगभग 17 कहानियाँ अप्रकाशित।

पानू जी की डायरी का अवलोकन करने पर पता चला कि उन्होंने एक नाटक की रचना भी की थी। लेकिन फिलहाल यह पता नहीं चल पाया कि इसका शीर्षक क्या था तथा इसका स्वरूप क्या था।

इस सूची से स्पष्ट है कि प्रकाशित से ज्यादा अप्रकाशित रचनाएँ अभी पानू जी के पास पड़ी हुई थीं। पहले सभी अप्रकाशित सामग्री पुस्तकाकार प्रकाशित हो और फिर उनकी समस्त रचनाओं को समेटते हुए उनकी एक ग्रंथावली तैयार की जाए तो निश्चय ही वह पाँच-छः खंडों में होगी।

पानू खोलिया साठोत्तर पीढ़ी के अति महत्वपूर्ण कथाकार रहे हैं। उनका अत्यधिक महत्व इसी तथ्य से प्रमाणित होता है कि उनके उपन्यास उस समय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साप्ताहिक-द्वय क्रमशः 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे पत्रों में धारावाहिक प्रकाशित होते थे। उनकी कहानियाँ उस समय की महत्वपूर्णतम पत्रिकाओं जैसे 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'सारिका', 'ज्ञानोदय', 'रविवार', 'कहानी', 'माया', 'कादंबिनी', 'नवभारत टाइम्स', 'योजना', 'नीहारिका', 'उत्कर्ष', 'विकल्प', 'आजकल', 'त्रिपथगा', 'मधुमती', 'सैनिक' आदि में नियमित

और महत्व के साथ निरंतर प्रकाशित होती थीं। जैसे उनके उपन्यास धारावाहिक छपते थे, उनकी कहानियाँ भी एक के बाद एक लगातार एक पत्रिका में छपती थीं; 'नीहारिका' पत्रिका ने एक बार वर्ष-भर में बारह कहानियाँ उनकी छापी थीं। उनकी कहानियाँ 'धर्मयुग' जैसी पत्रिका में 'एक सशक्त कथाकृति' की टेगलाइन के साथ छपती थीं।

पानू खोलिया का कथा-साहित्य अपने देश-काल, परिस्थिति का साफ आईना रहा है। कुमाऊँ अंचल से संबद्ध होने के कारण पहाड़ी जीवन-पद्धति, भू-संस्कृति, परंपरा, भाषाभिव्यक्ति इत्यादि की समृद्ध और स्पष्ट झलक उनकी कहानियों में मिलती है। 'पनचक्की', 'तुन महाराज', 'सीसकटी', 'गुनो लौट गई' जैसी कहानियाँ इसकी उदाहरण हैं। पानू खोलिया शेखर जोशी और शैलेश मटियानी की परंपरा को काफी आगे तक विकसित करते हैं। विशेष रूप से पहाड़ी इलाके की स्त्री का यथार्थ पानू खोलिया की कहानियों में शिद्ध के साथ उभरा है। पहाड़ी परिक्षेत्र में पितृसत्ता नए-नए रूपों में लगातार पुनर्जीवित होती चलती है, यह यथार्थ पानू खोलिया की कहानियों में गहराई के साथ संरचित हुआ है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पानू खोलिया यथार्थ को जस्टीफाई नहीं करते, अपितु उसका अतिक्रमण कर एक नया यथार्थ, नई जीवन-संभावना अपने लेखन में उकेरते दिखाई देते हैं। वे जीवन और परिदृश्य में व्याप्त धुंध का बखूबी चित्रण करते हैं, उसके विभिन्न आयामों को सामने लाते हैं; लेकिन इसी के साथ यह भी करते हैं कि इस धुंध के कारणों और सूत्रों पर भी गहरी और पैनी नजर डालते हैं। यह गहरी और पैनी नजर एक नई वैकल्पिक रचना-दृष्टि के बतौर

सामने आती है, जो आगे का रास्ता खोलती है। धुंध के पार धुंध चाहे मौजूद हो, लेकिन पाठक धुंध के पार रोशनी का एक कतरा जरूर अनुभव कर लेता है।

कुमाऊँ भू-सांस्कृतिक परिदृश्य के अध्ययन की दृष्टि से पानू खोलिया की कहानियों और उपन्यासों का अपना एक अलग महत्व है। सुविधा के लिए हम इसे आंचलिकता नाम दे देते हैं पर वस्तुतः यह अपने समय की विश्व-दृष्टि की ही एक बानगी होती है। अंचल इस अखण्ड और सम्पूर्ण विश्व-दृश्य का ही एक अविभाज्य हिस्सा होता है, जो शेष विश्व के राजनीतिक एवं सामाजिकार्थिक क्रम में ही, उसका एक अंगीभूत अंश ही होता है, जिसकी अपनी कुछ स्थानीय विशिष्टताएँ होती हैं, लेकिन समग्रतः होता वह एक बड़े परिदृश्य का टुकड़ा ही है। अतः कुल मिलाकर वह यथार्थ को संपूर्णता प्रदान करने का काम करता है। इस दृष्टि से पानू खोलिया का कथा-साहित्य एक विश्व-दृष्टि का प्रवाचक माना जा सकता है। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ और उपन्यास महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश जैसे दूरदराज इलाकों के विश्वविद्यालयों के हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रमों के हिस्से बन जाते हैं। महाराष्ट्र के औरंगाबाद विश्वविद्यालय के बी ए के पाठ्यक्रम में उनका उपन्यास 'टूटे हुए सूर्यबिंब' पढ़ाया जाता रहा है।

पानू खोलिया को 'सत्तर पार के शिखर' पर 1979 में राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च मीरा स्मृति पुरस्कार प्राप्त हुआ था। मार्च 2006 में उत्तराखंड संस्कृति, साहित्य एवं कला परिषद, उत्तरांचल, देहरादून ने उन्हें उनके सारस्वत अवदान के लिए सम्मानित किया था। हिंदी की प्रसिद्ध साहित्य, कला, संस्कृति की

अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका 'आधारशिला' ने सन 2018 में अंक 172-173 के रूप में 'पानू खोलिया का कथा संसार' नाम से उन पर एकाग्र एक विशेषांक निकाला था, जिसके बारे में 'दैनिक ट्रिब्यून' ने लिखा कि 'आधारशिला' का विशेषांक सातवें दशक के कथाकार पानू खोलिया के रचनाकर्म को समझने की नई दृष्टि देता है। पानू खोलिया की गिनती उन संवेदनशील कथाकारों में होती है, जिनकी धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, सारिका आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित आरंभिक रचनाओं ने ही उन्हें राष्ट्रीय पहचान दिला दी।'

भारतीय साहित्य को समृद्ध करने में कथाकार पानू खोलिया का भरपूर योगदान रहा है। समकालीन मध्यवर्गीय व निम्नमध्यवर्गीय यथार्थ का हृदयहारी अंकन करने में उन्हें महारत हासिल थी। पानू खोलिया अपनी पीढ़ी में अपने कथा-शिल्प के लिए अलग से जाने जाते थे। 'हंस' संपादक राजेन्द्र यादव ने उनके उपन्यासों पर प्रतिक्रिया देते हुए लिखा- "शिखर' और 'सूर्यबिंब' खूबसूरती से लिखे उपन्यास'। वरिष्ठ कथाकार रमेश चंद्र शाह ने 'टूटे हुए सूर्यबिंब' पर अपनी प्रतिक्रिया में लिखा कि- "दुख की ऐसी पारदर्शी पहचान कम ही देखने को मिलती है। वह भी ऐसी तड़प और खुलेपन के साथ। कितने विस्तार को तुमने किस एकाग्र संगठन से समेटा है।" वरिष्ठ कथाकार हेतु भारद्वाज ने उनकी कहानियों पर चर्चा करते हुए लिखा कि 'उनकी कहानी लेखन की यात्रा बड़ी तीव्र गति से चलती है और 1972 तक उनकी लगभग 26 कहानियाँ देश की सभी अग्रणी पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। वे शीघ्र ही हिंदी के चर्चित कहानीकारों में अपना स्थान बना लेते हैं।' राजा खुशगाल ने लिखा कि

‘सातवें दशक में पहाड़ के जिन कहानीकारों ने कुछ कहानियाँ लिखकर कहानी के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया, उनमें पानू खोलिया मुख्य हैं। ‘वरिष्ठ कथाकार से. रा. यात्री ने उनकी ‘अन्ना’ कहानी के बारे में कहा कि- ‘हर सही लेखक को ललक होगी कि वह ‘अन्ना’ जैसी समर्थ रचना लिख ले जाए तो लेखन की सार्थकता प्रमाणित हो।’ वरिष्ठ महिला कथाकार राजी सेठ ने ‘टूटे हुए सूर्यबिंब’ पर प्रतिक्रिया करते हुए लिखा कि “बैठे हुए आदमी को बेचैन करके खड़ी कर दे कोई बात- इससे बड़ी सफलता पुस्तक की और क्या होगी। मैं कहूँ असाधारण, को साधारण-सामान्य सच बना पाने में सिद्धहस्त हैं आप तो गलत नहीं होगा।’ दिवाकर भट्ट ने लिखा कि ‘सातवें दशक के जिन कथाकारों ने अपनी कुछ कहानियों से ही हिन्दी साहित्य जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाया उनमें पानू खोलिया प्रमुख नाम है। उत्तराखण्ड के ग्रामीण परिवेश से निकलकर राजस्थान को अपनी कर्मभूमि बनाने वाले पानू खोलिया की कहानियाँ ‘धर्मयुग’, ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, ‘ज्ञानोदय’, ‘सारिका’ व हिन्दी साहित्य की दूसरी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के माध्यम से देश-दुनिया तक पहुँची और उन्होंने कम समय में ही हिन्दी को चर्चित कहानियाँ व उपन्यास देकर एक दृष्टि-सम्पन्न लेखक की हैसियत प्राप्त की।” उल्लेखनीय है कि एक समय के अतिमहत्वपूर्ण आलोचक डॉ. बच्चन सिंह ने ‘धर्मयुग’ में ‘एक किरती और’ की समीक्षा की थी, जिसमें उनकी कहानियों को महकाव्यात्मक संवेदना की रचनाएँ कहकर पहचाना गया था। ये सभी उद्धरण ‘आधारशिला’ (संपादक- दिवाकर भट्ट) के पानू खोलिया विशेषांक से लिए गए हैं।’

पानू खोलिया के कहानी-लेखन की एक

बड़ी उल्लेखनीयता यह है कि स्त्री और दलित अस्मिताएँ वहाँ अपना शानदार मुकाम तलाशती नज़र आती हैं। उनकी अधिकांश कहानियों की विषय-वस्तु इन्हीं दो संदर्भों के इर्द-गिर्द बनती-सँवरती है। ‘शीशकटी’, ‘गुनो लौट गई’, ‘पनचक्की’, ‘चौधा’, ‘रौशनी वाला छेद’, ‘औकात’, ‘तुम्हारे बच्चे’ जैसी कहानियाँ इसकी मिसाल हैं। ऐसी कहानियाँ वहाँ और भी हैं। इन कहानियों में लेखक पर्याप्त डी-जेंडर और डी-कास्ट हुआ है।

पानू खोलिया का लेखन अन्य अनेक कथाकारों की तरह ही एक गहरे गतिरोध का शिकार हुआ। किंतु धीरे-धीरे उन्होंने अपने इस गतिरोध पर विजय पाई और फिर से लेखन की दुनिया में सक्रिय हुए। लंबे अरसे बाद पिछले दशक में एक बार फिर उनका वही लेखकीय तेवर हिन्दी के पाठकों को दिखाई दिया, जो सातवें-आठवें दशक में उनमें दिखाई दिया था। एक के बाद एक कई उपन्यास इधर उनके छपकर आए और कई निकट भविष्य में आने वाले हैं। इनमें ‘वाहन’, ‘मुझे मेरे घर जाने दो’ उपन्यास प्रमुख हैं। ‘कालू कलबंसिया’ और ‘तौक’ उपन्यास प्रकाशन की पाइप-लाइन में हैं। इसी तरह ‘प्रतिनिधि कहानियाँ’ तथा ‘विपरीत धार तथा अन्य कहानियाँ’ भी शीघ्र प्रकाश्य हैं।

उनकी अप्रकाशित रचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण है, उनकी आत्मकथा; जिसका शीर्षक है- ‘अपनी ही राख से पुनर्जीवित होना’। फीनिक्स का यह रूपक पानू खोलिया के जीवन और व्यक्तित्व पर हू-ब-हू लागू होता है कि इतने लंबे अंतराल और गतिरोध के बाद; उससे बखूबी उबरकर एक बार फिर वे लेखन की दुनिया में आए और पुनर्प्रतिष्ठित हुए। पानू खोलिया में कितनी अदम्य जिजीविषा और सिसृक्षा थी, इससे

मैं हालाँकि पहले से सुपरिचित था लेकिन इधर उनकी मृत्यु का समाचार पा जब मैं उनके घर हल्द्वानी गया और दो-तीन दिन रुका और उनके 'कागज-पत्रों' को खँगाला और उन्हें फौरी तौर पर व्यवस्थित किया, तो पाया कि वे गंभीर बीमारी की हालत में भी टेबिल पर लगातार बैठते थे। उनकी लिखने की मेज पर अभी भी कोई रचना लिखी जा रही थी, एक उपन्यास पर काम चल रहा था। उनकी पत्नी श्रीमती पद्मा जी ने बताया कि वे लगातार इस बात की रट लगाए थे कि 'मुझे बचा लो! अभी मुझे कितना काम करना है।' उनकी बेटियों ने बताया कि जब तक अस्पताल जाने की नौबत नहीं आ जाती थी, वे टेबिल छोड़ते नहीं थे। उनकी दो डायरियों में उनकी लेखन-योजनाएँ अंकित मिलीं, जिन्हें वे या तो पूरा कर चुके थे या पूरा करना चाहते थे। उनके लेखन-कार्य का समस्त ब्यौरा इन डायरियों से मिल जाता है। उनकी डायरी के दो पृष्ठ पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ देना उपयुक्त होगा। इन दो पृष्ठों में उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं का लेखा-जोखा दे रखा है। इनमें कहानियाँ तो हैं ही, उपन्यास भी हैं और आत्मकथा का भी उल्लेख है।

उत्तराखंड और हिंदी-प्रदेश के कई विश्वविद्यालयों में पानू खोलिया के कथा-साहित्य पर एम. फ़िल., पी-एच. डी. कार्य हुए हैं। 'टूटे हुए सूर्यबिंब' पर अलग से एम. फ़िल हुआ है।

पानू खोलिया की मृत्यु के उपरांत उत्तराखंड तथा देश-भर के हिंदी अखबारों में बराबर और बार-बार उनका महत्व निरूपित हुआ है। उन्हें व्यापक श्रद्धांजलियाँ दी गईं। उत्तराखंड के मुख्यमंत्री त्रिवेन्द्र सिंह रावत ने अपने शोक-संदेश में कहा कि "स्वर्गीय पानू खोलिया ने हिंदी साहित्य

को समृद्ध और जीवंत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।" हल्द्वानी-नैनीताल से प्रकाशित सभी प्रमुख समाचार-पत्रों; यथा 'अमर उजाला', 'हिन्दुस्तान', 'उत्तर उजाला', 'दैनिक जागरण' आदि ने लगातार उनके विषय में अपने संवाददाताओं के मार्फत रिपोर्ट प्रकाशित कीं। इन खबरों में श्रद्धांजलि देने वालों में प्रसिद्ध वरिष्ठ कथाकार-आलोचक बटरोही, सुदर्शन वशिष्ठ, विज्ञान-लेखक देवेंद्र मेवाड़ी, कथाकार दिनेश कर्नाटक, सतीश छिम्पा, 'आधारशिला' के संपादक दिवाकर भट्ट, कवि-कथाकार शैलेय, पत्रकार जगमोहन रौतेला, हरीश पंत, उमेश तिवारी 'विश्वास', कुमाऊँनी कहानीकार जगदीश जोशी आदि शामिल हैं। बटरोही जी ने कहा कि 'वह हमारे दौर के प्रेरक कहानीकार थे।' 'आधारशिला' के कार्यालय में 10 जनवरी को एक शोक-सभा/संगोष्ठी भी हुई, जिसमें मैं भी उपस्थित था तथा अध्यक्षता की थी। इस शोक-सभा/संगोष्ठी में राजस्थान/जयपुर से दूरभाष के जरिए कथाकार हेतु भारद्वाज ने अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की। इस शोक-सभा/संगोष्ठी में नैनीताल, हल्द्वानी, रुद्रपुर से बड़ी संख्या में लेखकों ने भागीदारी की। पानू जी की दो बेटियाँ तथा पुत्र-वधू भी इसमें आईं और अपने उद्गार व्यक्त किए।

इस श्रद्धांजलि/स्मृतिपरक लेख का समापन पानू खोलिया के गत वर्ष 'सापेक्ष' पत्रिका के संपादक महावीर अग्रवाल द्वारा 'कथायन'-47 के लिए लिए गए एक साक्षात्कार (पृष्ठ 24-29) के कुछ अंशों को प्रस्तुत कर किया जाना सार्थक और उपयुक्त होगा। यह साक्षात्कार 'कहानी की एक सदी' शृंखला के अंतर्गत लिया गया था। यह शृंखला लंबी थी और इसमें हिंदी के लगभग सभी नामचीन कथाकार शामिल किए गए थे।

इस इंटरव्यू में सवाल स्वयं महावीर अग्रवाल के हैं, जिनका विस्तृत उत्तर लेखक ने दिया है। कुछ सवालों के जवाब देखे जा सकते हैं। सवाल इन जवाबों में निहित देखे जा सकते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन जवाबों में पानू जी के बड़े लेखकीय मंतव्य सन्निहित हैं। मसलन-

(1) लेखन का स्थायी क्रम नौकरी लग जाने के बाद शुरू हुआ, जब मन में गँठ गया कि नियमित रूप से एक साधना के बतौर लिखना है-स्वास्थ्य, नौकरी और दांपत्य सबको लाँघकर लिखना है, इस निश्चय से लेखन के बाद पहली कहानी आगरा की 'निहारिका' में मार्च 64 में 'एक किरती और' नाम से छपी और मेरे लिए कहानी का सिलसिला शुरू हुआ।

(2) शुरू में तो केवल लेखकीय शौक था, बाद में यह मात्र लेखन की अभिरुचि से उठकर जीवन का एक ठोस कर्म बन गया। नौकरी सहकर्म था, लेखन मुख्य कर्म। वह बहुत कुछ एक सहारा बन गया। उसका ध्येय हो गया है, मानव जीवन का अध्ययन, जीवन की अंतर्गूढ़ गुत्थियों को समझना, मानव मन की परख करना, अंतर्वाह्य यथार्थ की पहचान। प्रेमचंद से अधिक मुझे इसकी प्रेरणा पाश्चात्य कथा साहित्य से मिली है। आज का कथाकार मानव जीवन की अन्तर्गूढ़ गुत्थियों को खोलता है, पात्रों का सतही चित्रण भर नहीं करता। यह एक जीवन-व्यापी शोध है। चेखव, शोलोखोव, मोपासाँ सब इसमें शामिल हैं।

(3) कथ्य और कलात्मक संतुलन कहानी में होना चाहिए। उसके बीच असंतुलन होना दो बेडौल पहियों की तरह हो जाएगा, जो रचना को सुचारु भाव से चलने नहीं देते। किंतु वहीं कथ्य की प्राथमिकता को कलात्मकता की कीमत पर टाला भी नहीं जा सकता। वह कथ्य को उपेक्षित

कर कलात्मकता को प्रधानता देकर कहानी को साहित्यिक कृति की जगह कुछ और बना देगा-कोई तमाशा, चुटकुला, मजाकियाँ; कुछ और संतुलन का अर्थ कथ्यात्मकता का परित्याग नहीं होता।

(4) कहानी की भाषा सीधी और बोधगम्य होनी चाहिए। बहुत कुछ प्रेमचंद की पहचान ली हुई, तभी वह समझ में आती है और हृदय को छूती है। कहानी जीवन-यथार्थ का चित्रण करती है, इसलिए भाषा भी कहानी की जीवन के यथार्थ के निकट की होनी चाहिए।

हिंदी में प्रेमचंद और कमलेश्वर की भाषा शुद्ध कहानी की भाषा है, सामान्य जन की समझ से पूरे अंदर की। उसमें किसी तरह का चमत्कार, प्रयोग, कलात्मकता कुछ भी नहीं है। वह सोलहों आने कहानी की भाषा है : सहज, स्वच्छ।

(5) वैचारिक प्रतिबद्धता का आशय है कि लेखक को पता होना चाहिए कि वह क्या लिख रहा है, किसके लिए लिख रहा है, क्यों लिख रहा है- उसके लिखने का मंतव्य क्या है? उसके लिखने की सीमा क्या है? वह एक वैचारिक लड़ाई या आंदोलन को महज शाब्दिक रूप तो नहीं दे रहा- बल्कि उसे कथा, चरित्र, भाषा और शिल्प के सुगठित स्वरूप में ढाल रहा है। मात्र किसी वाग्युद्ध के आधार पर रचना (यानी कथा-रचना) का दृश्य-पट नहीं उठाया जा सकता। प्रतिबद्धता मात्र प्रत्याख्यान खड़ा करना नहीं है- एक प्राण-प्रतिष्ठा की क्रिया को अंजाम देना है, एक जीवन को प्रत्यक्ष करना है।

(6) कहानी के साथ-साथ अब उपन्यास लिखना अच्छा लगने लगा है। मूलतः मैं हूँ तो कहानीकार, इसलिए वही मेरी जड़ है, वही मुझे लौटना है।

(7) लेखन द्वारा सामाजिक, वैचारिक और क्रांतिकारी परिवर्तन कठिन लगता है। हमारा नैतिक चरित्र, राष्ट्रीय भावना, जातिवाद, भाषावाद, अनेक रूढ़ियाँ-रूकावटें हैं जो देश के चरित्र और सोच की मुक्तावस्था को जकड़े हुए हैं। यहाँ तक कि हमारे जीवन में साहित्य पढ़ना तक नहीं उतरा है। अब भी या तो हम पौराणिक पाठक हैं या स्थानीय अखबारों की सुर्खियाँ चुन लेते हैं। रूस और फ्रांस में क्रांति-पूर्व का जो उन देशों का चरित्र रहा, वह हमारे यहाँ दूर तक कहाँ है? क्रांति की चेतना के लिए जो चिंगारी चाहिए, वह हममें कभी जगी नहीं। ऐसे में लेखक का दायित्व है, वह हमारी राष्ट्रीय चेतना को अपने लेखन में सँजो कर रखे, जागृत रखे, सुरक्षित रखे। साहित्य में हमारी रूचि बढ़ाए, हमारे इतिहास को जिलाए रखे।

(8) रचनाकार सामाजिक दायित्व के लिए कलम उठाता है। वह व्यक्ति जिसे सामाजिक जिम्मेदारी का बोध ही न हो, वह किस ज़रूरत के लिए कलम उठाएगा? सही रचनाकार को अपने समाज की स्थितियों का क्षण-क्षण का बोध और चेतना रहनी चाहिए। वह मात्र एक सामाजिक प्राणी नहीं है। साहित्य-सृष्टि से होता हुआ वह सामाजिक चेतना को जगाए रखने तक का कार्य करता है। उसकी साहित्य-सर्जना समाज में अलख उत्प्रेरित करने के लिए होनी चाहिए। वह मात्र एक निष्क्रिय अक्षर-पाठक नहीं है, लेखन के

अलावा वह जो अन्य साहित्यिक आचरण करता है; पत्रिकाएँ निकाल कर समाज को जागृत करना, गोष्ठियाँ आयोजित करना आदि; वह भी सामाजिक दायित्व के निमित्त ही होते हैं। वह अपनी तमाम लेखकीय क्रियाओं से सांप्रदायिक विषमताओं को शांत कर समाज में समभाव उत्पन्न करता है, इसलिए जनमानस को बदलने का निरंतर प्रयास करता हुआ वह सांप्रदायिक आग को बुझाने में शनैः-शनैः अपनी भूमिका अदा करता है।

(9) कहानी के स्वरूप-विधान पर आलोचना की सक्रिय भूमिका रहती है। एक छोटी विधा है कहानी, आलोचना उसे तुरंत प्रभावित कर देती है। कहानी की तोड़-मरोड़ करने में आलोचना का बड़ा हाथ है, इसलिए उसकी सक्रियता वहाँ बढ़ जाती है। कुछ पहले तक आलोचक कहानीकार की सहभूमिका में रहता था। आज कहानी का जहाँ विकास हो रहा है, आलोचना वहीं की वहीं स्थिरता को प्राप्त हो गई है, ऐसी हालत में आलोचक के बारे में बात करना अब संकट से खाली नहीं है।

संलग्न :

परिशिष्ट 1 (पानू खोलिया की डायरी का एक पृष्ठ)।

परिशिष्ट 2 (पानू खोलिया की डायरी का एक पृष्ठ)।

संपर्क : शंभु गुप्त, 21 सुभाष नगर, एन ई बी , अग्रसेन सर्किल के पास, अलवर (राजस्थान) - 301001, फ़ोन : 9414789779, 8600552663 ई-मेल : shambhugupt@gmail.com

ज्ञानानुशासनों का जोर और बिना दिन की दैनंदिनी शशिभूषण द्विवेदी

पिछले आठ-नौ महीनों से सामाजिक जीवन जिस तरह से लॉकडाउन में रहा है और पूरी दुनिया की मनुष्यता मनोवैज्ञानिक स्तर पर जिस भय का शिकार रही है, इन दोनों के मेल से या इन दोनों के संदर्भ के साथ अगर किसी मेरे जैसे साहित्य और ज्ञान की दूसरी शाखाओं की थोड़ी-बहुत चिंता करने वाले आदमी से पूछा जाए कि उसे इस दौरान इस भारी खाली समय में क्या हासिल हुआ, तो उसका जवाब क्या होगा?

और अगर यह भी पूछा जाय कि इस समय ने हमारे भविष्य नाम के इस समय के लिए क्या दिया या कैसे रास्ते बना, तो इसका जवाब क्या होगा? या इसके निष्कर्ष आगे के समय के किस काम आएंगे तो इसका उत्तर क्या होगा?

माना जाना चाहिए कि जीवन और मनुष्यता को संचालित करने वाले सारे भौतिक और बौद्धिक उपादानों पर जितनी बहसें इन महीनों के दौरान हुई, इन सबों ने इस वर्ष को एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ दिया है; लेकिन अपना जोर मनुष्य की भौतिकताओं के इर्द-गिर्द ही रखा है। गंभीर बहसों के सारांश स्वरूप बौद्धिक जगत के लिए यह कहा जा सकता है कि इन महीनों ने साहित्य समेत ज्ञान के बाकी अनुशासनों को जिस तरह से सामाजिक सोच और चिंतन के केंद्र में लाने की कोशिश की; वह भी ऐतिहासिक है; क्योंकि साहित्य, साहित्येतिहास, राजनीति, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि पर जितनी बहसें इस दौरान हुई, उससे यह साफ हुआ कि दुःख में बड़ी ताकत है और अज्ञेय का 'दुःख' सचमुच सबको भाँपता है और निदा फाजली का 'दुःख' बिना-चिट्ठी और तार के दुःख से बात करता है। उनका एक दोहा है :

मैं रोया परदेस में, भींगा मांग का प्यार।

दुःख ने दुःख से बात की, बिन चिट्ठी बिन तार। सूत्र अवश्य देते हैं।

हमने इस दौरान लोगों को लोगों से बात करते हुए तो देखा, लेकिन दुःख ने अपने अलग-अलग संदर्भ जिस तरह से इन महीनों में पाए वह अविस्मरणीय रहेगा। साहित्य में गैब्रियल गार्सिया मार्खेज - जिन्हें 1982 में नोबेल पुरस्कार मिला था, के कम चर्चित लेकिन ज्यादा महत्वपूर्ण उपन्यास 'लव इन द टाइम ऑफ कॉलरा' को करीब-करीब हर महत्वपूर्ण लेखक के इस दौरान याद किया। क्योंकि, इस दुर्दिन में इस किताब का एक नया संदर्भ व्याख्यायित हुआ। आशय यह था कि इस महा भयानक दौर में क्या कुछ और भी महत्वपूर्ण है, या हो सकता है। आखिर वह कौन सी चीज है जो कुछ मानवीय भावनाओं या शाश्वत भावनाओं को ऐसे समय में भी जीवित रखती है। इसी के साथ शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों के प्लेग का प्रकरण और चौथे दशक के बंगाल के

अकाल का संस्मरण डॉ. हरिवंश राय 'बच्चन' की कविताओं के साथ हुआ और फ्रेंच लेखक अल्बर्ट कामू के उपन्यास 'द प्लेग' के नाट्य और फिल्म रूपांतरण पर गंभीर बहसों का सिलसिला जो चला तो स्पैनिश प्लेग की भूतहा यादें ताजी हो गईं। बिहार के बेतिया में पैदा हुए अंग्रेजी लेखक जार्ज ओरवेल के दोनों महत्वपूर्ण उपन्यासों 'द एनीमल फॉर्म' और '1984' पर कुछ विद्वानों ने विदेशी प्रेस में अद्भुत टिप्पणियाँ की और ओरवेल को इस समय से जोड़कर साहित्य की शाश्वत और कालजयी व्याख्या को एक सामयिक आयाम दिया। दोनों विश्व युद्धों यानी बीसवीं प्रारंभिक और चौथे दशक पर हुई बहसों ने दर्शन और समाजशास्त्र के कई ऐसे पहलुओं को छुआ जिनसे हेमिंग्वे, सॉल बेलो, या हमारे अपने खुशवंत सिंह और कमलेश्वर की रचनाएँ भी अछूती नहीं रही हैं। चूँकि 1947 में भारत की आजादी और देश का बँटवारा हमारे कई घावों से जुड़े हैं; इसलिए अमृता-प्रीतम के 'पिंजर' खुशवंत सिंह के 'ट्रेन टू पाकिस्तान' और कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' पर बहस एक सार्थक पहल लगी। मनोविज्ञान और साहित्य में समान दखल रखने वाले वर्धा के हिंदी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र में 'आधुनिकता' की कई खामियों को जब इस दुर्दिन से जोड़ा तो आधुनिक जीवन के खोखलेपन का एक छिछोरा रूप हमारे सामने आया। मानवशास्त्र, नृत्यशास्त्र और मनोविज्ञान के अंतर्संबंधों पर अमेरिकी विद्वान नोम चोमस्की को उद्धृत करते हुए यह कहा गया कि वे मानते हैं कि अमेरिकी मध्यम वर्ग के बाद भारतीय मध्यम वर्ग दुनिया का सबसे भौंडा या 'बल्गर' मध्यम वर्ग है। इससे इस देश के चौतरफा विनाश की तरफ बढ़ते एस्थेटिक्स या सौंदर्यबोध का बलात रूप हमारे सामने आया, जिसके प्रक्षेपण हमारे साहित्य, प्रकाशन-संस्थानों और बाजार मानसिकता के अर्थशास्त्र पर साफ दिख रहे हैं।

जाहिर सी बात है कि राजनीति जब हमारी सारी नियति का नियंता प्रजातंत्र के बावजूद बनकर उभरी है तो उस पर बहस को आना ही था और इसीलिए यह मानने में कोई हर्ज नहीं कि राजनीतिक शब्दों की जो उधारी साहित्य से लेती है, वह उसका उपयोग अपनी आवश्यकता और फायदे के लिए तोड़-मरोड़कर करती है। यहाँ तक कहा गया कि दुनिया के सबसे ताकतवर देश का राष्ट्रपति वह आदमी है जिसका अमेरिका के हर बड़े शहर में जुआघर यानी कैसिनो चलते हैं। भारत के तात्कालिक संदर्भों को व्याख्यायित करते हुए यह तथ्य सारांशतः आया कि अब सब कुछ बाजार और व्यापारी ही तय करेगा। विज्ञान और समाज के संदर्भ में पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम का प्रसंग आया जिनका जन्म दिन अक्टूबर में पड़ता है।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान के संबंध इस दौरान जितनी चर्चा में रहे उतने कभी नहीं रहे क्योंकि सारी दुनिया की अर्थव्यवस्थाएं चिंता का कारण बनीं और उसके पीछे राजनीति की निराश-हताश-कुंठित मनोविज्ञान की नपुंसकता देखी गई। डर का इजहार इस तर्क के साथ किया गया कि सब कुछ राजनीति के हवाले जब हो जाता है तो यही होता है। राजनीति का मूल चरित्र चूँकि 'वर्चस्व' और 'संभव के खेल' यानी 'गेम ऑफ पॉसिबिलिटी' से संचालित होता है; इसलिए उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। क्योंकि उसके पास मनोविज्ञान के कुत्सित-अहंकार और अर्थशास्त्र के पैसे का बेहया जोर होता है और राजनीति की तर्क शक्ति अगर मजबूत है तो उसे तर्क को कुतर्क बनाने में ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती। समाजशास्त्र का सामाजिक व्यक्ति इसका शिकार सदियों से रहा है, जिसके प्रक्षेपण स्वरूप इस दौरान हमने अस्सी रुपये प्याज खरीदा और बीस रुपये का एक पाव बैंगन। ऊपर से बीमारी के डर ने वह सब कराया जिसकी कल्पना सपने में भी

नहीं थी, यानी : अपने हाथ को अपने ही नाक से अलग रखिए, दिनभर साबुन से हाथ धोते रहिए और मुँह और नाक को बैलों की तरह जाबी यानी मॉस्क से ढके रहिए। पूरी दुनिया ने चीन नामक एक सनकी देश को जिम्मेवार ठहराया। वही पुरानी बात फिर आ गई, राजनीति बहुत कुछ करवाती भी है और बहुत कुछ न स्वयं करती है, न किसी को करने देती है।

इसी बीच साहित्य और पत्रकारिता को एक नया आयाम देता अक्तूबर का महीना आ गया। इसने कई लोगों को, कुछ विशेष व्यक्तियों को और उनके ज्ञान-संसार को समझने में मदद की। इसी महीने के अंत में ये पंक्तियाँ मैं लिख रहा हूँ जिसे अंग्रेजी के बड़े लेखक स्व. आर. के. नारायण की किताब 'माई डेटलेस डायरी' की तरह भी पढ़ा जा सकता है। यह इन महीनों की मेरी भी बिना दिन-तारीख वाली डायरी ही है। खैर !

अक्तूबर वैश्विक दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण होता है कि इसी महीने संसार की बौद्धिक जगत की उत्सुकता को एक नया आयाम और एक विराम देता, एक नया उद्घोष हर वर्ष यूरोप के एक छोटे से किंतु महत्वपूर्ण देश स्वीडन से होता है, जिसे दुनिया नोबेल पुरस्कार के रूप में जानती है। चूँकि ये पुरस्कार ज्ञानानुशानों की विभिन्न विद्याओं यानी साहित्य, अर्थशास्त्र, भौतिकी, रसायन, दवा और शांति आदि में विश्वभर में इन क्षेत्रों के उल्लेखनीय लोगों को दिए जाते हैं, इसलिए नोबेल समिति की घोषणाओं की प्रतीक्षा बौद्धिक संसार साँस रोककर करता है। इस वर्ष का यह पुरस्कार अंग्रेजी की अमरीकी कवयित्री 77 वर्षीय लुईस ग्लक को इसलिए दिया गया कि इनकी कविताओं में सौंदर्य के साथ-साथ व्यक्तिगत-अस्तित्व को सार्वभौमिक बनाने की क्षमता भी देखी गई यानी नोबेल समिति के शब्दों में "Nobel

prize for her unmistakeable poetic voice that with austere beauty makes individual distance universeal"। वे अमरीका के येल विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाती हैं। उनके बारह कविता संग्रह हैं और उन्हें 20 वीं शताब्दी के बड़े कवियों टी.एस. इलियट, स्पेंडर, लूइस मैकनीज आदि के साथ रखा-समझा जाता है। आइए थोड़ा रुककर उनके व्यक्तिगत अस्तित्व को सार्वभौमिक बनाने वाली टिप्पणी पर विचार करें।

व्यक्ति कहें अस्तित्ववान व्यक्ति जब अपनी क्षमता, प्रतिभा, सामर्थ्य, उदारता और त्याग आदि शाश्वत गुणों से अपना विकास करता एक मुकाम पर आ जाता है तो उसका व्यक्तित्व सार्वभौमिक भूमिका में आ जाता है। हर अक्तूबर की दो तारीख हमें हमारे एक ऐसे ही महामानव की याद दिलाती है, जिन्हें हम बापू या महात्मा गांधी कहते हैं। गांधी जी ने पढ़ाई तो इंग्लैंड में कानून की की थी, लेकिन साहित्य, चिंतन, अध्यात्म, समाजशास्त्र आदि ज्ञानानुशासनों को उन्होंने जिस तरह से प्रभावित करके दुनिया पर अपनी छाप छोड़ी, उसका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। अगर नोबेल की ही बात की जाए तो 20वीं शताब्दी के तीसरे चौथे दशक के लगभग हर कालखंड में उनका नाम शांति के नोबेल पुरस्कार के लिए आया, लेकिन अंग्रेजों की बेईमानी नोबेल कमिटी पर भारी पड़ती रही और उन्हें पुरस्कार 1947 तक नहीं मिला। 1947 में भारत के आजाद होने के साथ नोबेल कमिटी जगी और 1948 में उन्हें शांति का पुरस्कार देने की सारी तैयारी कर ली गई। लेकिन, हाय रे! दुर्भाग्य 1948 की जनवरी में उन्हें एक आततायी की गोलियों का शिकार होना पड़ा। चूँकि यह पुरस्कार अक्तूबर में दिया जाता है और मरणोपरांत नहीं दिया जाता; इसलिए इस वर्ष भी बापू इस पुरस्कार से वंचित रह गए। इस पुरस्कार के संस्थापक अल्फ्रेड नोबेल के बिल

में ऐसा ही प्रावधान है। लेकिन, 1948 में नोबेल कमिटी ने अपने सारे पापों का प्रायश्चित्त करते हुए यह कहा कि कोई भी जीवित व्यक्ति इस वर्ष इस पुरस्कार के लायक नहीं है यानी "no living person deserves the prize this year." दुनिया के बौद्धिक जगत ने कमिटी के इस वाक्य का सही अर्थ लगाया जिसे कमिटी ने माना कि जो जीवित नहीं है, वही इसके लायक था। यूरोपियनों की किसी-किसी बिंदु पर अपनी गलती स्वीकार करने वाली यह मानसिकता सराहनीय है। 1948 में शांति का पुरस्कार किसी को दिया ही नहीं गया। बाद में यूरोप और अमेरिका के सभी बड़े अखबारों ने लिखा कि उस वर्ष गांधी "Single fittest Candidate" यानी एकमात्र योग्यतम उम्मीदवार थे। गांधी 2 अक्टूबर 1869 को इस धराधाम पर आए थे और वे दुनिया के संभवतः अकेले राजनीतिक व्यक्तित्व हैं जिन पर पाँच हजार से अधिक किताबें ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में विभिन्न कोणों और संदर्भों के साथ लिखी गईं। उनके स्वयं की किताबें 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' यानी *My Experience With Truth* और 'हिन्द-स्वराज' के साथ उनके द्वारा संपादित पत्र 'हरिजन' तो ऐतिहासिक हो ही चुका है। वे ज्ञान की हर विधा के लेखकों के किसी न किसी रूप में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नायक रहे और उन पर पहली किताब उस समय के संसार के जाने माने फ्रेंच लेखक रोमां रोलां ने लिखी। अगर पत्रकारिता की ही बात की जाए तो अमेरिका के विश्व चर्चित समाचार पत्र 'वाशिंगटन पोस्ट' ने अपने एक संवाददाता श्री वाकर को सिर्फ गांधी को 'कवर' करने के लिए लगा रखा था। एक किस्से से गांधी पर अपने इस संदर्भ की बात पूरी करूंगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि वाकर ने कोई खबर अपने अखबार को नहीं भेजी। शाम को अखबार के संपादक की सूचना वाकर को मिली और उन्होंने पूछा कि आपने कोई खबर क्यों नहीं

भेजी। वाकर ने जवाब में कहा कि आज कोई ऐसी खबर नहीं थी। संपादक महोदय क्रोधित होकर बोले "वाकर! तुम क्या बकवास करते हो। तुम को पता होना चाहिए कि आज की दुनिया में गांधी से बड़ा कोई आदमी नहीं है। गांधी की छींक भी हमारे लिए खबर है। मैं तुमसे कुछ भी ऐसा आगे नहीं सुनना चाहता। सावधान रहो"। यह प्रसंग अंग्रेज रिचर्ड एडिनबरो की फिल्म 'गांधी' में जस का तस व्याख्यायित है इस फिल्म को अंग्रेजों के द्वारा भारत के प्रति किए गए लगभग दो सौ वर्षों का पाप के प्रायश्चित्त की तरह भी देखना चाहिए। वाशिंगटन पोस्ट आज भी अमेरिकी समाज का सब कुछ तय करने वाला अखबार माना जाता है।

अक्तूबर के महीने को गांधी समेत जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अब्दुल कलाम, के. आर. नारायणन आदि से जोड़कर देखने की एक बड़ी वजह यह भी है कि इन सबके इसी महीने 100 वर्ष पूरे हुए। कहा तो यहाँ तक गया कि इन सब पढ़े-लिखे और ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों से जुड़ी परंपराएं धूमिल हो रही हैं। इन लोगों की ज्ञान-परंपराओं को समझने की कोशिश हमें करनी चाहिए।

जयप्रकाश नारायण को इतिहास 20वीं शताब्दी के बिहार-आंदोलन और 1975 के जून में आपातकाल लागू होने से जोड़कर देखता-समझता रहा है। उनके नेतृत्ववाले आंदोलन ने देश की राजनीति की दिशा-दशा बदलने की कोशिश की; लेकिन एक अमरीकी विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र पढ़े हुए जयप्रकाश नारायण जिस तरह की राजनीति चाहते-करते थे और जिस 'संपूर्ण क्रांति' को उन्होंने समाज में सभ्यता के आगे बढ़ते रहने के लिए शाश्वत या *Continuity* के रूप में देखा था, वह एक तात्कालिक सफलता के बाद लगभग शिथिल पड़ गई। यह अनायास नहीं है कि समाजशास्त्र पढ़कर राजनीति करने वाले जयप्रकाश नारायण के आंदोलन में साहित्यकार

निर्मल वर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, फणीश्वर नाथ रेणु, सत्यनारायण, गोपी बल्लभ सहाय, रवींद्र राजहंस, विजयदेव नारायण साही, जैसे मूर्धन्य साहित्यकारों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। अज्ञेय जी ने जयप्रकाश नारायण के पत्र 'एवरीमैन' यानी **Everyman** का संपादन किया और रेणुजी ने अपना 'पद्मश्री' सरकारी विरोध-स्वरूप लौटा दिया। पटना की सड़कों पर जेठ की दुपहरिया में निर्मल वर्मा, रेणु जी, धर्मवीर भारती आदि को जिन लोगों ने माथे पर तौलिया लपेटे और पसीना पोंछते हुए पैदल जे.पी. के जुलूसों में चलते देखा है उनमें कलकत्ता के विद्वान स्व. डॉ. गोरखनाथ मिश्र यह सब कहते हुए भावुक हो जाते थे। आजकल जयप्रकाश जी पर गिरती हुई सरकारी लाठियों को अपने ऊपर ले लेने वाले स्व. नानाजी देशमुख के इस एपिसोड की बहुत चर्चा है। और हाँ, जेपी के ही एक और सहयोगी थे, जर्मनी में अर्थशास्त्र पढ़े हुए राममनोहर लोहिया जिनका देहांत 11 अक्तूबर को हुआ था।

हिंदी के महा-समर्थक और बाकी समाजवादियों की तरह कभी भी अंग्रेजी नहीं बोलने वाले लोहिया को मार्क्सवादी इसलिए पसंद नहीं करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि मार्क्सवाद एशिया के खिलाफ यूरोपियनों का एक हथियार है। वे अपने एक लेख में जो अंग्रेजी दैनिक 'द हिन्दू' के जुलाई 1960 के एक अंक में छपा है; लिखते हैं, "Marxism is a fad and Europe's ideological tool against Asia; a system that imposed the dictatorship of a party over people". यह अनायास नहीं है कि जाने-माने हिंदी आलोचक और अपनी मौलिक स्थापनाओं के लिए जाने जानेवाले प्रो. नित्यानंद तिवारी डॉ. लोहिया को गांधी जी के बाद 'सर्वाधिक-बौद्धिक' राजनेता

मानते हैं। यह बहुत कम लोगों को पता है कि चित्रकूट में रामायण मेले की शुरुआत में डॉ. लोहिया का बड़ा हाथ था और उन्होंने ही मकबूल फिदा हुसैन को भारतीय मिथक ग्रंथों रामायण, महाभारत आदि पर चित्र बनाने की राय दी थी। बाद में हुसैन ने मिथकों का जो सत्यानाश अपनी दमित-यौन-कुंठाओं के कारण किया वह इतिहास हो गया है। गांधी, जयप्रकाश नारायण, लोहिया इन सबने एक छाप अपनी विद्वता, सोच और कर्मा से भारतीय समाज पर छोड़ी, लेकिन उनसे भी गहरी छाप आदि कवि वाल्मीकि में छोड़ी। उनकी भी जयंती 31 अक्तूबर को आती है।

मैंने दुःख की चर्चा के साथ इस डायरीनुमा लेख की शुरुआत की थी और वाल्मीकि के काव्य की शुरुआत ही दूसरे के दुख से दुखी होकर हुई थी।

माँ निसाद प्रतिष्ठाम् त्वम् गमः शाश्वती समां

यत्क्रौंच मिथुना देखमधवी काम् मोहितम्।

दुःख निराला के लिए भी 'जीवन की कथा' था और साहित्य तथा ज्ञान के दूसरे अनुशासनों के बिना मनुष्यता की चर्चा हो नहीं सकती। ऐसे समय कम आते हैं जैसे इस अक्तूबर में पिछले आठ-नौ महीनों से चलते हुए आए और एक साथ ज्ञान की इतनी सारी खिड़कियाँ खोल-खटखटा गए। जर्मन नाटककार ब्रेस्टट यहाँ मौजू लगे हैं:

‘बरस ऐसा कहेंगे लोग

बार्ते इसके बारे में

रहेंगे लोग चुप

इसके बारे में’।।

और हाँ, सिर्फ ज्ञानी ही चुप नहीं बैठते। बाकी को तो हम देख ही रहे हैं। महाभारत के ज्ञान की मदद ली जाए तो द्रौपदी के चीरहरण के समय सिर्फ महाज्ञानी मंत्री विदुर ने दुर्योधन को 'कुरु कुल का सर्प' कहा था। बाकी सबका तो लॉकडाउन था।

संपर्क : महावीर गेस्ट हाउस 31ए, के.सी. दे रोड, दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी, मो. 9775938214

मुक्तांचल अक्तूबर-दिसंबर 2020 22

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी आलोचना सोनम सिंह

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिंदी आलोचना का सूत्रपात कर दिया था। उन्होंने 'नाटक' शीर्षक निबंध में शास्त्रीय समीक्षा सिद्धांतों के देश कालानुरूप परिवर्तित होते रहने की बात जोरदार शब्दों में कही थी। उन्होंने नाटकों के उद्देश्य पर विचार करते हुए समाज संस्कार और देशभक्ति को सर्वोपरि बताया था। इस प्रकार भारतेन्दु ने आलोचना के क्षेत्र में दो प्रमुख बातों की स्थापना की। पहली तो यह कि शास्त्रीय सिद्धांत परिवर्तनशील है। उनकी युग के अनुसार पुनः व्याख्या होनी चाहिए। दूसरी यह कि साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक चेतना को भी दृष्टि में रखकर करना चाहिए। अर्थात् शास्त्रीय मर्यादा के साथ ही साहित्यिक कृति तभी महत्वपूर्ण मानी जा सकती है जब उसमें समाज संस्कार की चेतना और देशभक्ति की भावना हो। आगे चलकर बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन और प्रताप नारायण मिश्र इन चारों आलोचकों ने साहित्य को जीवन के साथ संपृक्त करके देखा। साहित्य में संयम, मर्यादा और शुद्धाचरण की प्रतिष्ठा पर अधिक ध्यान दिया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं में युग के अनुसार परिवर्तन की ही बात नहीं कही, कुछ मान्यताओं के सर्वथा त्याग पर भी बल दिया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' की भूमिका में लिखा है - प्रसिद्ध है कि द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा का परिष्कार किया। फरवरी 1939 की 'सरस्वती' में श्यामसुंदर दास ने लिखा था द्विवेदी जी का महत्व उनके लेखों में नहीं है। उनका महत्व विशेषकर इस बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुंदर रूप देने का सफलतापूर्वक उद्योग किया। जिस समय 'सरस्वती' का यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था, उस समय इस पत्रिका के संपादक द्विवेदी जी के लेखों का सामाजिक महत्व भूले न थे। श्यामसुन्दर दास ने द्विवेदी जी के लिखे उद्धरण को देते हुए इसे स्पष्ट किया है। इस दुनिया की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो नीच-ऊँच का कायल नहीं, जो ब्राह्मण-अब्राह्मण, चांडालों और कीड़े-मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। छुआछूत के माननेवालों को ऐसे भ्रष्ट ईश्वर का संसार छोड़ देना चाहिए।' अगस्त 1924 द्विवेदी जी के इस उद्धरण की व्याख्या करते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है- 'यहाँ सदियों से चले आते हुए सामाजिक रूढ़िवाद को नया युग चुनौती दे रहा है। भारतेन्दु युग में पुरानी व्यवस्था को बदलने की माँग जहाँ-तहाँ सुनाई देती है। द्विवेदी-युग में वह

माँग अधिक उग्र और अधिक व्यापक बन गई है। इस तरह की बातें भाषा परिष्कार के दायरे में नहीं हैं और उन्हें भुला देना अपने इतिहास को भुला देना है।

डॉ. रामविलास शर्मा का द्विवेदी जी के विषय में कहा यह कथन संकेत करता है कि द्विवेदी जी का मूल्यांकन केवल भाषा परिष्कार की दृष्टि से करना अनुचित ही नहीं, बल्कि इतिहास एवं हिंदी साहित्य दोनों के साथ अन्याय है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी भाषा को एक स्थिर रूप तो प्रदान किया ही इसके साथ ही अपने समय की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक घटनाओं पर उन्होंने अपने वैज्ञानिक एवं गहन चिंतन को व्यक्त किया है। अपने समय के इतिहास की गहरी समझ का परिचय भी इन्होंने समय-समय पर सरस्वती में प्रकाशित लेखों द्वारा दिया है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी इसी पुस्तक में महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व को और स्पष्ट करते हुए लिखा है - "राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर उन्होंने ध्यान दिया और जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिंतन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।साहित्य क्षेत्र में उन्होंने तय कर लिया था कि हिंदी गद्य का विकास करना है, आधुनिक हिंदी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाना है, कविता में ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को प्रतिष्ठित

करना है और साहित्य से रीतिवाद को निकाल बाहर करना है।द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा के विकास के अनेक पक्षों पर ध्यान दिया। भारत में अंग्रेजी की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्याएँ, भारतीय भाषाओं के बीच संपर्क-भाषा की समस्याएँ, हिंदी-उर्दू की समानता और आपसी भेद, हिंदी और जनपदीय उप-भाषाओं के संबंध आदि पर उन्होंने बहुत गहराई से विचार किया। भाषा परिष्कार का काम उनके व्यापक कार्यक्रम का एक अंश मात्र है।"

डॉ. शर्मा का यह उद्धरण द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उजागर करता है। हिंदी आलोचना में ही केवल उनका व्यक्तित्व महत्वपूर्ण नहीं था बल्कि अपने युग के एक युगचेता स्वतंत्र विचारधारा वाले सामाजिक एवं ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में भी वे उतने ही महत्वपूर्ण थे।

द्विवेदी जी संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन का आरंभ संस्कृत के कवियों और उनकी कृतियों पर विचार करने से ही किया।

जब महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक न हुए थे, तब सितंबर 1901 की 'सरस्वती' में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक था 'निरीश्वरवाद'।

'निरीश्वरवाद' शीर्षक लेख में सर्वदर्शन संग्रह से चार्वाक मत से संबंधित विभिन्न श्लोकों को द्विवेदी जी ने उद्धृत किया है। उन्होंने इनका अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। उन्हीं के किये हुए एक अनुवाद का अंश है। अग्निहोत्र करना, वेद पढ़ना, त्रिदंड संन्यास लेना और भस्म इत्यादि धारण करना निर्बुद्धि और पौष्टहीन आलसी लोगों की जीवीका सुख से निर्वाह होने के लिए ब्रह्मा ने बनाया है।" द्विवेदी जी का यह उद्धरण उनकी उस आधुनिक दृष्टि का परिचायक है, जहाँ किसी भी विचार पद्धति को स्वीकारने के पहले उसे

ठोक-बजाकर देखने की आदत का पता चलता है। जहाँ प्राचीन शास्त्रों के नाम पर फैलाये गये आडंबरों को कड़े स्वर में तर्कपूर्ण ढंग से चुनौती दी गई है। इसके साथ ही चार्वाक एवं श्रीहर्ष में उसी तर्कपूर्ण विचारधारा के स्रोतों को खोजने की चेष्टा भी की गई है।

इस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है। 'सर्वदर्शन संग्रह' में जैसी बातें चार्वाक के मत के अंतर्गत बताई गई हैं वैसी ही बातें कलियुग की ओर से संस्कृत कवि श्रीहर्ष के 'नैषध चरित' में कहलायी गई हैं। द्विवेदीजी ने 1921 में 'श्रीहर्ष का कलियुग' शीर्षक लेख लिखा था। उनके निबन्ध-संग्रह 'साहित्य संदर्भ' गंगा ग्रंथागार-लखनऊ में यह निबंध दिया हुआ है। द्विवेदी जी ने नैषध चरित में कलियुग-चर्चा पर विशेष ध्यान क्यों दिया यह निरीश्वरवाद पर उनका लेख देखने से मालूम होगा।

वेदों के नाम पर जिस तरह का कर्मकांड इस देश में कभी प्रचलित था, उसकी सीधी आलोचना न करके द्विवेदी जी सबसे पहले तो पाठक को उसकी जानकारी कराते हैं जिससे वह भारतीय संस्कृति के अंतर्विरोधों को समझें फिर पुरानी रूढ़ियाँ कहाँ तक संगत थीं, इस पर वह विचार करें?

किंतु प्राचीन रूढ़ियों पर प्रहार करने का अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि द्विवेदी जी का दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृति के प्रति नकारात्मक था। वे तो उसके पुनर्मूल्यांकन और बुद्धिसंगत ज्ञान के पक्ष में थे। वे जानते थे कि हमारी प्राचीन संस्कृति पर गर्व राष्ट्रीय आत्मसम्मान का अभिन्न अंग है और स्वाधीनता आंदोलन और हमारे प्राचीन अस्तित्व के प्रमाण के लिए यह आत्मसम्मान की भावना अत्यंत मूल्यवान है। द्विवेदी जी वेदों के पठन-पाठन पर जोर देते हुए अपनी चेतना को सदैव रूढ़ियों से मुक्त रखने का आग्रह

करते थे।

द्विवेदी जी की सोच नये वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रति विशेष आग्रह रखती थी। इन नई वैज्ञानिक खोजों से वे जनमानस को भी परिचित कराना चाहते थे। इसी कारण समय-समय पर 'सरस्वती' में पदार्थ विज्ञान, परमाणुवाद, भूगर्भ विद्या, ज्योतिर्विद्या आदि वैज्ञानिक विषयों पर निरंतर लेख प्रकाशित करते रहे और इस तरह आधुनिक विज्ञान की जानकारी देकर द्विवेदी जी 'सरस्वती' के पाठकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार करते रहें। उन्होंने सबसे ज्यादा लेख डार्विन और विकासवाद पर छापे। डार्विन की विचारधारा ने ही सारी दुनिया में धार्मिक अंधविश्वासों की जड़ें हिला दी थी।

नवजागरण की नवीन चेतना के साथ-साथ साक्षरता के महत्व को भी विद्वानों ने समझा था। नये सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा-प्रसार अत्यंत आवश्यक था। सरस्वती के अंकों में द्विवेदी जी ने निरक्षरता पर अनेक बार लिखा। उनका ध्यान विशेष रूप से गाँवों में फैली हुई निरक्षरता की ओर जाता था। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में इसका एक उद्धरण देते हुए लिखा है - 'मई 1915 में सरस्वती में द्विवेदी जी ने टिप्पणी लिखी- 'भारत में शिक्षा की दशा।' गाँवों में मदरसे बहुत कम हैं, जितने हैं उनमें बहुत कम लड़के जाते हैं। सरकार हर आदमी के पीछे, जनसंख्या को देखते, आठ आने भी खर्च नहीं करती। यह स्थिति बहुत ही शोक-जनक है। चाहिए था कि प्रारंभिक शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य कर दी जाती?'

हिंदी नवजागरण के सूत्रधारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी वैज्ञानिक दृष्टि, वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता के प्रति सबसे अधिक सचेत थे। किंतु वह शिक्षा को केवल भारत की औद्योगिक

उन्नति के लिए ही आवश्यक नहीं समझते थे, बल्कि वह शताब्दियों से चली आती हुई रूढ़ियों की जड़ काटने के लिए इतिहास और मानव-संबंधों को सही-सही समझने के लिए और प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए शिक्षा के प्रचार-प्रसार को आवश्यक समझते थे।

द्विवेदी जी ने हिंदी में रीतिवादी कविता का विरोध बड़े ही धैर्यपूर्वक एवं युक्तिपूर्वक ढंग से किया। रीतिवादी कविता का विरोध वैसे तो भारतेंदु युग में ही आरंभ हो चुका था किंतु द्विवेदी जी की भूमिका आधुनिक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करनेवाले अग्रदल की भूमिका थी। अपनी उसी भूमिका की शक्ति के कारण द्विवेदी जी रीतिवाद के विरोध में तुलसी और सूर का महत्व घोषित कर सकें। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में हम इस तथ्य को पहचान सकते हैं। 'भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की परंपराएँ कैसे एक दूसरे से टकराती हैं। सूर और तुलसी के साथ देव और मतिराम का नाम लिखना क्यों बहुत बड़ा साहित्यिक अपराध है। इसका ज्ञान द्विवेदी जी के निम्नलिखित विवेचन से होता है, 'हिंदी में यदि कोई कविरत्न कहे जाने योग्य कवि या महाकवि हुए हैं तो वे सूर और तुलसी ही हैं। रस-भाव-अलंकार-छंदशास्त्र और नायिका भेद के परिज्ञान से मनुष्य-जाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है। इन विषयों पर दो एक छोटी-मोटी पुस्तकें लिखनेवाले मतिराम जैसे कवि भी यदि रत्न श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे तो यही कहना पड़ेगा कि रत्न शब्द अपने ठीक अर्थ में नहीं व्यवहृत हुआ। कहीं उससे हीरे का अर्थ लिया गया, कहीं केवल काँच का। मतिराम, देव और भूषण चाहे जितने अच्छे कवि रहे हो पर क्या उनके ग्रंथ उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि सूर और तुलसी के।

आचार्य द्विवेदी जी की निम्नांत दृष्टि ने सूर, तुलसी एवं देव, मतिराम के काव्य वैशिष्ट्य

एवं दोनों के काव्य-अंतर को भलीभाँति पहचान लिया था। द्विवेदी जी की दृष्टि ने यह देखा था कि सूर और तुलसी का काव्य किस तरह जन-जीवन से जुड़ा हुआ है एवं वहीं से काव्य-वस्तु की जीवंतता ग्रहण कर रहा था। इसके साथ ही उन्होंने देखा कि देव एवं मतिराम के काव्य की वस्तु सामंती संस्कारों से युक्त थी, जहाँ दरबारी काव्य के सारे लक्षण उपस्थित थे एवं जन-जीवन की संपूर्ण चेतना अनुपस्थित थी। अपनी इसी रीति विरोधी दृष्टि के कारण द्विवेदी जी भारतेंदु हरिश्चंद्र को किसी भी रीतिवादी कवि से नीचे स्थान देने को तैयार न थे। 1912 ई. में उन्होंने मिश्र बन्धुओं की पुस्तक 'हिंदी नवरत्न' की आलोचना सरस्वती के जनवरी और फरवरी के दो अंकों में प्रकाशित की। इसमें वे लिखते हैं- 'जिन हरिश्चन्द्र ने भिन्न-भिन्न विषयों के कितने ही गद्य पद्यात्मक काव्य, नाटक और इतिहास आदि लिखे और जिनकी बदौलत हिंदी भाषा ने एक नया रूप पाया वे भी रत्न और पुराने पंथ के पथिक, नायिका भेद आदि पर बहुत ही कम उपयोगी ग्रंथ लिखनेवाले मतिराम और देव भी रत्न शब्द की इससे अधिक अवहेलना हो सकती है।'

आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी की इसी रीतिविरोधी दृष्टिकोण का दूसरा चरण हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में देखने को मिलता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- 'हिंदी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे।'

आचार्य शुक्ल ने रीतिवादी कवियों को खुले स्वर में चुनौती दी थी और इस रीति विरोधी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने

पहले ही तैयार कर दी थी।

जून 1901 की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी का 'नायिकाभेद' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने रीतिवाद का संबंध सीधे राजदरबारों से जोड़ा है। लिखा है, राजाश्रय मिलने की देरी राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कविजी को देरी नहीं। 10 वर्ष की अज्ञात-यौवना से लेकर 50 वर्ष तक की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव-भाव, विलासादि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन संतोष नहीं करते थे। व्यभिचार में सुकरता होने के लिए दूती कैसी होनी चाहिए, मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे अधिक प्रवीण होती हैं, इन बातों का भी वे निर्णय करते थे।

वस्तुतः हिंदी में यह नायिका भेद उस सामंती संस्कार का अवशेष था, जहाँ राजाजन प्रजा की दुःख तकलीफों से आँखें मूँदे स्वप्नों की काल्पनिक दुनिया में खोये रहते थे। वास्तविकता की इसी अनदेखी ने इस देश को गुलामी की जंजीरों से जकड़ रखा था। ऐसी स्थिति में रीतिवादी दृष्टिकोण का विरोध कर महावीर प्रसाद द्विवेदी गुलामी की उस मानसिकता का विरोध कर रहे थे। जहाँ स्वयं की स्वतंत्रता के प्रति कोई आदर-भाव एवं सम्मान नहीं था। राष्ट्र ही नहीं संपूर्ण समाज ही एक दूसरे किस्म की मानसिक परतंत्रता के चंगुल में फँसा था। एक ऐसी मानसिकता जहाँ मुक्ति की चेतना ही समाप्त हो चली थी।

नायिका भेद की परम्परा बहुत पुरानी थी और व्यापक थी। इसका स्रोत स्थान संस्कृत भाषा थी। कालिदास, भानुदत्त की रसमंजरी आदि में नायिका भेद का वर्णन किया गया था। किंतु ब्रज भाषा की पुस्तकें इस विषय में संस्कृत को बहुत पीछे छोड़ आईं।

नायिका भेद रस-विशेष के अंतर्गत था। यह रस-विशेष शृंगार रस था। इस शृंगार रस के प्रति कवियों की अतिशय भक्ति साहित्य को दिन-ब-दिन खोखला करती जा रही थी। द्विवेदी जी ने इसके विषय में लिखा है- 'नायिकाएँ ही शृंगार रस की अवलंबन हैं और शृंगार रस ही सब रसों का राजा है।

राजा का जीवन ही जब इन नायिकाओं पर अवलंबित है तब कहिए क्या भाषा साहित्य में इनकी इतनी प्रतिष्ठा न हो।"

महावीर प्रसाद द्विवेदी शृंगार रस के विरुद्ध नहीं थे पर उस संस्कार के विरुद्ध अवश्य थे, जो साहित्य में रस के नाम पर अमर्यादित शृंगार को प्रतिष्ठित किए हुए था और इसके साथ ही समाज की मानसिक चेतना को कुंठित एवं यथार्थ के प्रति अंधा बनाए हुए था।

डॉ. रामविलास शर्मा ने इस संबंध में लिखा है। 'प्रश्न शृंगार रस को साहित्य से खदेड़ देने का नहीं था, प्रश्न उसे मर्यादित करने का था। संस्कृत और उसके बाद ब्रज भाषा में शृंगार रस की अतिशयता का कारण यह था कि हिंदी प्रदेश के जनपदों में भारतीय सामंतवाद के मुख्य केंद्र थे। ये केंद्र अन्य प्रदेशों के छोटे-बड़े केंद्रों को प्रभावित करते थे। इससे यह परिणाम भी निकलता है कि अखिल भारतीय नवजागरण के लिए सबसे पहले और सबसे अधिक प्रयत्न हिंदी प्रदेश में करना आवश्यक था।"

द्विवेदी जी के अनेक कार्यों में से एक प्रमुख कार्य था हिंदी भाषा को स्थिर स्वरूप प्रदान करना और इस कार्य के लिए द्विवेदी जी ने अत्यन्त स्वाध्याय पूर्वक व्याकरण की शुद्धता पर ध्यान दिया। शुक्ल जी ने लिखा था। "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे।" भाषा के संबंध में द्विवेदी जी के विचार अत्यंत परिष्कृत थे। वस्तुतः द्विवेदी जी

का जनवाद ही था जिसकी प्रेरणा से वे साहित्य को देश के साधारण नागरिकों के जीवन से जोड़ना चाहते थे।

इसीलिए वे एक ऐसी सरल भाषा के पक्षपाती थे, जो आमलोगों की समझ के अनुरूप हो। उन्होंने भाषासंबंधी एक निश्चित दृष्टिकोण के आधार पर लेखकों की भाषा का सुधार किया। उनका दृष्टिकोण केवल शुद्धता पर केंद्रित नहीं था, यह उन्हीं के एक उद्धरण से स्पष्ट होता है - 'मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हो यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिंदी के शब्द समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिंदी को कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अनपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार संभव नहीं।' महावीर प्रसाद द्विवेदी का यह उद्धरण प्रमाणित करता है कि वे भाषा के संबंध में किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त थे, इसके साथ ही उनकी दृष्टि भाषा के विषय में शीशे के समान स्वच्छ एवं पारदर्शी है। इसी कारण उन्होंने भाषा में प्रयोग बहुलता के आधार पर शब्द प्रयोग की बात कही है एवं कहीं भी भाषा विशेष के शब्द प्रयोग पर जोर न देकर भाषा को अधिक से अधिक आम जन के समझने योग्य बनाने की बात कही है।

व्याकरण के संबंध में द्विवेदी जी उस बोलचाल की भाषा के हिमायती थे, जो बोलचाल की भाषा जनजीवन के भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो, जनजीवन से साहित्य को जोड़ने में सक्षम हो तथा जो आधुनिक युग के साहित्यकार की आधुनिक चेतना को व्यक्त करने में सक्षम हो और उसी भाषा का पक्ष उन्होंने कविता के संबंध में भी लिया। यही कारण था कि काव्य-भाषा में खड़ी बोली का उन्होंने समर्थन किया। खड़ी बोली का संबंध युगीन जन-जीवन से जुड़ा हुआ

था। ब्रज भाषा उस समय तक काव्य-रचना के लिए अपनी उपयुक्तता खो चुकी थी। काव्य एवं साहित्य अधिक से अधिक साधारण जन तक पहुँच सके द्विवेदी जी की यही चेष्टा थी। उस समय खड़ी बोली भी एक क्षेत्र की ही भाषा थी, लेकिन व्यापारिक पूँजीवाद के विकास के साथ वह अपने क्षेत्र से निकलकर धीरे-धीरे संपूर्ण हिंदी-भाषी जाति के सामान्य व्यवहार की भाषा बन गई। इस दृष्टि से खड़ी बोली के प्रसार का संबंध सामंती व्यवस्था के टूटने से था। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली के इस प्रगतिशील रूप को पहचाना था, इसीलिए, उन्होंने उसे बोलचाल की भाषा कहा था और उसका क्षेत्र ब्रज भाषा की तुलना में अत्यधिक व्यापक बतलाया था।

द्विवेदी जी ने संस्कृत, अंग्रेजी के साथ ही बंगला, मराठी और गुजराती साहित्य का भी अध्ययन किया था। अंग्रेज कवियों में वे सबसे अधिक वर्ड्सवर्थ से प्रभावित थे।

वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में दिए हुए काव्य-सिद्धांत के अनुरूप ही उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा के एक होने, छोटे विषयों पर काव्य रचना करने तथा काव्य को अनुभूति-प्रधान बनाने की बात कही। निश्चय ही आचार्य द्विवेदी की कई साहित्यिक मान्यताओं पर अंग्रेजी के कवियों और लेखकों का प्रभाव है।

भारतेंदु ने आलोचना के क्षेत्र में दो मूलभूत आधारों की स्थापना की। प्रथम तो यह है, प्रत्येक प्राचीन एवं नवीन सिद्धांत परिवर्तनशील है। इसीलिए, प्रत्येक सिद्धांत का युगानुकूल पुनराख्यान होना चाहिए। दूसरा आधार यह था कि काव्य का मूल्यांकन सामाजिक चेतना को भी दृष्टि में रखकर करना चाहिए। कोई भी कृति सामाजिक चेतना से रहित होकर अपनी साहित्यिक सजीवता खो देती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाया। उन्होंने अनेक मान्यताओं में युगानुकूल

परिवर्तन की ही बात नहीं कही, बल्कि आवश्यकतानुसार कुछ मान्यताओं के सर्वथा त्याग पर भी बल दिया। किसी भी कवि की आलोचना करते समय वे कवि के आविर्भावकालीन परिस्थितियों का अध्ययन भी आवश्यक मानते थे। तात्पर्य यह कि आलोचक द्विवेदी के मूल्यांकन के आधार-तत्त्व व्यापक हैं। प्राचीनता से उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग, नवीनता की विवेकपूर्ण स्वीकृति, शास्त्र के स्थितिशील तत्वों की उपेक्षाएँ, समाज-संस्कार को महत्व, उपयोगिता, सोद्देश्यता, सदाशयता, स्वाभाविकता, सरलता और प्रभावोत्पादन क्षमता को काव्य के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह आदि वे मूलभूत मान्यताएँ हैं, जिन पर द्विवेदी जी की आलोचना आधृत है।

आचार्य द्विवेदी जी की समीक्षा का मूल्यांकन करते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है कि उनके सामने ऐसा कोई उत्कृष्ट लक्ष्य ग्रंथ नहीं था, जिसकी चुनौती स्वीकार करके वे अपनी समीक्षा-दृष्टि को किसी विशेष रूप में अभिव्यक्त करते। रीतिकालीन कृतियों को वे नकार चुके थे। खड़ी बोली की रचनाएँ प्रयोग की स्थिति में थी। ऐसी परिस्थिति में भी उन्होंने अपनी विशद एवं तीव्र दृष्टि के दायरे में आनेवाली प्रत्येक साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों पर पैनी निगाह डाली। इसके साथ ही बिना किसी भ्रांति के निष्पक्ष होकर अपने विचार अभिव्यक्त किए। उनकी यही विशेषता उन्हें

केवल आलोचक के दायरे से बाहर निकालकर एक युग-निर्माता के दायरे में ले जाती है एवं यह दायरा निस्संदेह अत्यंत व्यापक एवं गरिमामय है। वस्तुतः द्विवेदी जी विशिष्ट का विश्लेषण न करके सामान्य को विशिष्ट दिशा देने के लिए प्रयासरत थे।

डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में अगर कहें तो “द्विवेदी युग की आलोचना अत्यंत प्रखर है। उसमें उस तीव्र संघर्ष की झलक मिलती है जो साहित्य को रूढ़िवाद से मुक्त करके उसे नई दिशा में विकसित करने के लिए हो रहा है। यह संघर्ष साहित्य तक सीमित नहीं है। राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में यह संघर्ष चल रहा है और विभिन्न क्षेत्रों में चलने वाले ये संघर्ष आपस में जुड़े हुए हैं। इस युग में आलोचना की भूमिका यह है कि साहित्य और समाज की ठोस तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वह उन तमाम रूढ़ियों से संघर्ष करती है जो साहित्य के विकास में बाधक हैं। उसने कलात्मक साहित्य के विकास को प्रेरणा दी, उसके साथ-साथ आगे बढ़ी और कहीं-कहीं वह उसके आगे चलती है, भविष्य का पथ प्रशस्त करते हुए।” इस तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने युग के न केवल प्रबुद्ध व्यक्तित्व थे, बल्कि उनका चहुँमुखी विकसित व्यक्तित्व भविष्य के आनेवाले साहित्यकारों के लिए एक दिशा निर्देशक बना।

द्विवेदी जी के समकालीन अन्य प्रमुख आलोचकों में मिश्रबन्धु, पं.पद्मसिंह शर्मा, पं.कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन के नाम प्रमुख हैं।

समग्र आधुनिक काव्य में सर्प-बिंब का सबसे अधिक प्रयोग राष्ट्रकवि दिनकर ने किया है। उनकी अब तक की सभी कविताओं में सर्प-बिंबों की कुल संख्या 111 है। 'रेणुका' में 5, 'हुंकार' में 7, 'सामधेनी' में 7, 'कुस्क्षेत्र' में 13, 'बापू' में 7, 'धूप-छाँह' में 1, 'रश्मिरथी' में 22, 'नीलकुसुम' में 11, 'नये सुभाषित' में 1, 'सीपी और शंख' में 4, 'उर्वशी' में 8, 'परशुराम की प्रतीक्षा' में 15, 'कोयला और कवित्व' में 1, 'आत्मा की आँखें' में 2 और 'मृत्ति-तिलक' में 7 सर्प-बिंब हैं। सबसे अधिक सर्प-बिंब 'रश्मिरथी' में हैं और सबसे कम 'धूप-छाँह', 'नये सुभाषित' और 'कोयला और कवित्व' में हैं। 'रसवंती' और 'द्वंद्वगीत' में एक भी सर्प-बिंब नहीं है।

साँप : मानवीय जिह्मताओं का प्रतीक - साँप एक एंबिवैलेंट (Ambivalent) का प्रतीक है। यह सामूहिक अवचेतन के मुख्य विचारों को व्यक्त करने वाला प्रतीक है। ईसाई धर्मशास्त्रों में यह मनुष्य को लुब्ध कर पाप की ओर ढकेलने वाला माना गया है। यह सब दिन से मनुष्य के भय का कारण रहा है। जीवन में जहाँ कहीं छल है, प्रपंच है, धोखा है, फरेब है, विश्वासघात है, वहाँ-वहाँ साँप है। आस्तीन का साँप तो मुहावरा ही बन गया है। यह साँप दुष्टता, ईर्ष्या, रोष, संहार, छल-छद्म आदि का प्रतीक माना जाता है। दिनकर की कविताओं में सर्प-बिंब का अधिकांश प्रयोग इसी रूढ़िगत अर्थ में हुआ है।

यथा -

- (1) व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डस रहे चतुर्दिक विविध-व्याल।
- रेणुका ('हिमालय' कविता)
- (2) गूँज रही संस्कृति-मंडप में
भीषण फणियों की फुफकारें,
गढ़ते ही भाई जाते हैं
भाई के वध-हित तलवारें।
- रेणुका ('कस्मै देवाय' कविता)
- (3) भूखी बाघिन की घात-क्रूर,
आहत भुजंगिनी के दंशन।
- हुंकार ('विपथगा' कविता)
- (4) आज कठिन नरमेघ सभ्यता ने

ये क्या विषधर पाले।

- सामधेनी ('अतीत के द्वार पर' कविता)

(5) यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर,
गरल उड़ेल लोटने वाली।
- सामधेनी ('दिल्ली और मास्को' कविता)

(6) क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास
गरल हो। - कुक्षेत्र

(7) उठता कराल हो फणीश फुफकार है,
- कुक्षेत्र

(8) बचो युधिष्ठिर! यह नागिन का विष भरा
दंशन है। - कुक्षेत्र

(9) थी परस्व ग्रासिनी भुजंगिनि,
वह जो जली समर में। - कुक्षेत्र

(10) कहीं प्रतिशोध का कोई भुजंगम पालता
था। - कुक्षेत्र

(11) द्रुपदा कच में थी जो लोभ की नागिन,
- कुक्षेत्र

(12) प्राण में अब भी कहीं फुफकार भरता
नाग। - कुक्षेत्र

(13) विष के मतवाले कुटिल नाग। - बापू

(14) पर तुम साँपों से भी कराल,
काँटों से भी काले निकले। - बापू

(15) नागिन होगी वह, नारी नहीं। - रश्मिरथी

(16) सर्पिणी परम विकराली थी। - रश्मिरथी

(17) मानवी रूप में विकट साँपिनी हूँ मैं।
- रश्मिरथी

(18) वय अधिक आज तक व्यालों के
पालन पोषण में बीता है।
- रश्मिरथी

(19) पुरुष की बुद्धि गौरव खो चुकी है,
सहेली सर्पिणी की हो चुकी है।
- रश्मिरथी

(20) ये नर-भुजंग मानवता का
पथ कठिन बहुत कर देते हैं। - रश्मिरथी

(21) ओ शंका के व्याल! मत देख
मेरे श्याम बदन को।

- नील कुसुम ('व्याल विजय' कविता)
(22) विषधारी! मत डोल कि मेरा आसन बहुत
कड़ा है। - नील कुसुम ('व्याल विजय'
कविता)

(23) कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत
बड़ा है। - नील कुसुम ('व्याल विजय'
कविता)

(24) पर्वत पर से उतर रहा है महाभयानक
व्याल। - परशुराम की प्रतीक्षा

(25) सुनती हो नागिनी! समझती हो इस स्वर
को? - परशुराम की प्रतीक्षा

(26) डँसे एक को सर्प अगर तो दस मिलकर
हँसते हैं। - परशुराम की प्रतीक्षा

(27) श्रम पिला पालता स्वार्थ-व्याल।
- मृत्ति-तिलक

सांस्कृतिक क्षयिष्णुता से संघर्ष करने वाला
कवि मनुष्य के कलुष पर झुँझलाता है। मनुष्य
की विरूपता उसे स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए
ईर्ष्या, रोष, विनाश, छल-छद्म, लोभ, घृणा,
विश्वासघात, शोषण-दोहन, आदि को वह सर्प-
बिंब के द्वारा व्यक्त करता है। सर्प उत्तेजना से
रहित (Cold blooded) होता है, जिह्वा इसकी
बीच से फटी होती है। यह मनुष्य के उस व्यक्तित्व
का प्रतीक है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन
में एक ही भाषा नहीं बोलता है। आधुनिक जीवन
की विडंबना यह है कि मनुष्य न तो क्रिया से
सिद्ध है, न वाणी से शुद्ध। दिनकर ने सर्प-बिंब
द्वारा इस बात को बड़ी सफाई से कहा है:

माया है नाम भ्रमित उस धी का,

बीचो-बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है;

एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित
करने को, और दूसरी से बाकी का वर्जन सिखलाती

है।¹

सर्प की द्विधा-विभक्त जिह्वा का यह विलक्षण प्रयोग राष्ट्रकवि दिनकर ने मानव की चारित्रिक क्षयिष्णुता के प्रसंग में किया है।

व्याल-विजय : एक चरम परिणति - सर्प को इस रूप में देखने की दृष्टि परंपरायुक्त ही कही जाएगी। दिनकर-काव्य में इस दृष्टि की चरम परिणति 'व्याल-विजय' कविता में मिलती है। यह व्याल मनुष्य का कलुष है, उसका पाप है। इस युग में भी सार्षपिक मनोवृत्तियों का अभाव नहीं है। मनुष्य प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में अपने ही कलुष से संघर्ष करता आया है। मनुष्य की जय-यात्रा देवत्व की ओर हो रही है। ये व्याल यानी मनुष्य की अपनी ही जिह्मताएँ उसकी बाधक हैं। इसलिए 'व्याल-विजय' में कवि विषधर को फण तानने के लिए कहता है जिस पर खड़ा होकर वह कृष्ण की तरह सुस्त्रिच और सौंदर्य-बोध की बाँसुरी बजा सके। 'कालियदह' पशुता का पुंजीभूत कोश है। मनुष्य को उससे बाहर निकलना ही है। अपने ही विष से मत्त यह साँप अपने ही भाई को नहीं पहचानता है। मनुष्य के प्रत्येक कलुष पर अमृत छिड़कने वाला कवि साँपों की पीठों पर कुसुम लादने आया है। कृष्ण आज का मनुष्य है जो अपनी ही जिह्मताओं के कारण लघुता को प्राप्त हुआ है, फिर भी वह साँपों से अभी भी श्रेष्ठ है। मनुष्यता मरी नहीं है। फिर भी, "कल्याण तब तक नहीं दीखता, जब तक ये साँप, युग के ये साँप, समाज के साँप, व्यक्ति के भीतर के ये साँप दमित न हो जाएं। इसके लिए कृष्ण जैसा कर्मठ चाहिए और बाँसुरी जैसा अहिंसात्मक माध्यम।"²

'व्याल-विजय' कविता इसी विराट पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। यह कविता दिनकर-काव्य की आकस्मिक घटना नहीं है, प्रत्युत सांस्कृतिक

क्षयिष्णुता और मनुष्य की विरूपता से संघर्षशील काव्य की श्रेष्ठ स्वाभाविक परिणति है।

सर्प काल का प्रतीक - सर्प काल का प्रतीक है। यह काल ही है। विष्णु के शेषशायी रूप की पौराणिक परिकल्पना काल की ही परिकल्पना है। काल के बिना हमारा अस्तित्व ही संभव नहीं है। काल की अनंतता का यह प्रभावशाली प्रतीक है। पुराणों में यह वर्णन आया है कि शेषनाग के दस हजार मस्तक हैं। यह दस सहस्र भी उपलक्षण मात्र हैं। तात्पर्य यह कि इसके असंख्य मस्तक हैं। यह शेष, जो कि काल का प्रतिरूप है, असंख्य रूपों में सृष्टि में विकास और संकोच का काम करता रहता है।

यथा -

त्वया घृतोऽयं धरणीं विभर्तित चराचरं विश्वमनन्तमूर्ते।

कृतादिर्भेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्ति।³

यानी 'हे अनंत रूपवाले! तुम जिस धरती को धारण किए रहते हो, वह चराचर विश्व को धारण किए रहती है। हे अज! निमेष (पल) से लेकर कृत (सत्य) युग आदि विभाग-युक्त कालरूप से इस संसार को खाते रहते हो।'

सर्प का काल के प्रतीक के रूप में दिनकर ने अच्छा उपयोग किया है। दिनकर शेषनाग को काल के प्रतीक के रूप में ही ग्रहण करते हैं। यथा -

- (1) जा रहा बीतता होम लगन
करवटें चुका ले शेष-व्याल। -
'हुंकार' ('चाह एक' कविता)
- (2) ओ अशेषफण शेष! सजग हो
थामो धरा, धरो भूधर,
मेघ-रंघ्र में बजी रागिनी
टूट न पड़े कहीं अंबर।
- हुंकार ('मेघ-रंघ्र में बजी रागिनी' कविता)

शेष को अशेषफण कहने का तात्पर्य यह है कि काल के चरण अनंत हैं। शेष से भिन्न, केवल सर्प को भी दिनकर ने काल के ही रूप में देखा है।

- (1) मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट
वसु-काल-सर्पिणी के शतफन।
- हुंकार ('विपथगा' कविता)
- (2) जाने, किस दिन फुफकार उठे,
पद-दलित काल सर्पों के फन।
- हुंकार ('विपथगा' कविता)
- (3) वह काल-सर्पिणी की जिह्वा
वह अटल मृत्यु की सगी स्वसा।
- रश्मिरथी, सर्ग-6
- (4) हो गया तिरोहित काल-नाग - -
- सीपी और शंख

इन सभी उदाहरणों में सर्प काल का प्रतीक है, साथ ही मृत्यु का प्रतिरूप भी।

उरोबोरोस: अनंतता का साँप - पश्चिम में उरोबोरोस की कथा में सर्प को इसी काल का प्रतीक माना गया है। उरोबोरोस कुंडली मारे साँप है, अपने मुँह से अपनी ही पूँछ को काट रहा है। जीवन की चरम वास्तविकता तो यह है कि बूढ़ा होने के क्रम में व्यक्ति समूह-मन (Collective Psyche) में बूँद-बूँद करके शनैः-शनैः पिघलने लगता है। यह वही समूह-मन है, जिससे बड़े आयास द्वारा वह शिशु के रूप में निकला था। इसी तरह मानव-जीवन का चक्र अर्थपूर्ण सामंजस्य में परिणति पाता है और प्रारंभ और अंत एक-दूसरे से मिल जाते हैं। यही घटना अनादि काल से उरोबोरोस की कथा के द्वारा व्यक्त की जाती रही है। यह अनंतता का साँप है। 'उर्वशी' के तृतीय अंक में पुरूरवा एक जगह उद्वेग में कहता है -

सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,

काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल
मेरी बाँह में मास्त, गरुड़, गजराज का बल है।⁴

काम-क्षुधा का प्रतीक - जो सर्प मृत्यु-भय का कारण है, स्वयं मृत्यु ही है, जो सृष्टि के प्रवर्तन का भी कारण माना गया है, यानी सृष्टि का प्रवर्तन और समावर्तन करने वाली शक्ति काल ही है। चूँकि यह सर्प सृष्टि का प्रवर्तन करने वाली शक्ति का भी प्रतीक है, इसलिए मनुष्य की काम भावना का भी प्रतीक बन जाता है। फ्रायड का कहना है कि मृत्यु की ध्रुवीय भावना (Polar instinct) काम है। आज का मनोविज्ञान यह मानता है कि स्वप्न में कभी-कभी कोई वस्तु अपने विपरीत भावना को व्यक्त करती है। युंग ने तो स्पष्ट कहा है कि स्वप्न के सर्प व्यक्ति की शिश्न-भावना के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार मृत्यु का प्रतीक काम के प्रतीक में रूपांतरित हो गया है।

'नील कुसुम' में संगृहीत 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक कविता को दिनकर काव्य में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का बिंदु मानना चाहिए। इसी कविता में उन्होंने पहली बार सर्प को फ्रायडवादी प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है।

हृदय में सुगबुगा उठती जुही के फूल-सी कविता, लहू में रेंगने लगते हजारों साँप सोने के।⁵

यह साँप काम-क्षुधा का प्रतीक है। 'सोने' विशेषण को जोड़कर दिनकर ने इस बिंब को और प्रभावशाली बना दिया है। 'सोना' कामना का प्रतीक है। कामिनी के साथ कंचन का अपरिहार्य संबंध है। यही बिंब 'उर्वशी' में हूबहू आया है - **रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रूधिर में चेतना रस की लहर में डूब जाती है।⁶**

उद्दाम वासना से प्रेरित पुरुष के रूधिर में सोने के सहस्रों साँप का रेंगना कला की दृष्टि से अनमोल है। उसी प्रकार 'सीपी और शंख' में भी साँप को वासना का प्रतीक माना गया है -

अनुशीलन

मगर इतना करो,

लेलिह-सरीसृप-वासना की गाँठ मत खोलो।⁷

आज का मनोविज्ञान इसका साक्षी है कि वासना का साँप (Snake of Passion) जो कि मनुष्य में अपृथक्कृत सहजात वृत्ति का प्रतीक है, हृदय से निकलकर अवचेतन के समुद्र पर तैरता रहता है। समग्र आधुनिक काव्य में कदाचित् दिनकर एकमात्र कवि हैं, जिन्होंने सर्प बिंब का प्रयोग काम-क्षुधा के प्रतीक के रूप में किया है।

संदर्भ-

1. 'उर्वशी', पृष्ठ सं0 78
2. हिंदी काव्य: व्यवहारिक आलोचना, 'ब्याल विजय' पर प्रो. जगदीश नारायण चौबे के निबंध से उद्धृत। (गंगा पुस्तकालय, पटना)
3. विष्णु पुराण, 5/9/29
4. 'उर्वशी', पृष्ठ सं0 53
5. 'नील कुसुम' पृष्ठ सं0 14
6. 'उर्वशी', पृष्ठ सं0 52
7. 'सीपी और शंख', पृष्ठ सं0 42

संपर्क : सहायक आचार्य (हिंदी), भवंस मेहता महाविद्यालय, भरवारी-कौशांबी (उ.प्र.), पिन - 212201, मोबाइल - 7972465770, 7767031429, ईमेल - chummanp2@gmail.com

स्त्री-विमर्श की दृष्टि से बंग-महिला के साहित्य का महत्व**डॉ. पुनीता कुमारी**

बंग महिला (राजेंद्र बाला घोष) स्त्री विमर्श की कथा लेखिका के रूप में हिंदी साहित्य में समादृत है। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में स्त्री विमर्श की सार्थक पहल उन्हीं की रचनाओं में मिलती है। कहानी के अतिरिक्त अनुवाद और निबंध के क्षेत्र में भी उनका सार्थक अंशदान रहा है। वस्तुतः बंग महिला का साहित्य स्त्री मुक्ति के लिए संघर्ष को प्रोत्साहित करने वाला साहित्य है। उनके संदर्भ में भवदेव पाण्डेय का यह कथन पूर्णतः सत्य है - "बंग महिला ने 19वीं शताब्दी के आखिरी दशकों में नारी-शिक्षा के प्रति व्याप्त रुढ़ जकड़बंदी का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। स्त्रियों की शिक्षा के संबंध में उनका मत बहुत ही प्रगतिशील था। उस समय का पुरुष वर्ग, नारी-शिक्षा को लेकर छद्म मर्यादा की खाल ओढ़े था और नारियों को लज्जा और चरित्र-सुरक्षा के नाम पर शिक्षा के रास्ते पर पैर नहीं उठाने देता था। बंग महिला भी इसी सामाजिक प्रतिगामिता का शिकार हुई थीं। इसलिए आगे चलकर उन्होंने पुरुष वर्ग की ओछी धारणाओं को ललकारते हुए अशिक्षा और जड़ता से आक्रांत नारियों को जगाने की पुरजोर कोशिश की। उन्होंने बड़े विश्वास के साथ लिखा, शिक्षित हो जाने से लज्जाहीन हो जाने का कोई कारण नहीं है।"¹

बंग-महिला का वास्तविक नाम राजेंद्र बाला घोष था। उनके पितामह राम राम घोष मिरजापुर में रहकर वकालत करते थे और अपनी जमींदारी संभालते थे। उनके पुत्र राम प्रसन्न घोष की प्रथम संतान के रूप में बंग महिला का जन्म सन 1882 ई. में हुआ था। इनकी माता नीरदवासिनी घोष स्वयं बंगला की लेखिका थीं। माता से बंग महिला को साहित्यिक संस्कार मिले। उस समय कई बंगाली छद्म नामों से हिंदी में लेखन कर रहे थे। ऐसे बंगालियों में इंडियन प्रेस के मैनेजर गिरिजा कुमार घोष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने लाला पार्वती नंदन के नाम से हिन्दी में कई कहानियाँ लिखी। उनकी रचनाएँ - 'सरस्वती' में निरंतर छपती रहीं। उनकी पहली रचना हिंदी के ग्रंथकार है, जो 'समालोचक' पत्रिका के भाग-दो अंक 20-21 (1904) में प्रकाशित हुई। इस निबंध में उन्होंने हिंदी भाषा के उन्नति के लिए अपील की है। 1904 में ही उनकी दूसरी रचना 'अंडमान द्वीप' प्रकाशित हुई। यह रचना 'सरस्वती' जैसी प्रसिद्ध पत्रिका में छपी। 1905 में उनके दो लेख प्रकाशित हुए - 'जोधाबाई' और 'पति सेवा'। 'जोधाबाई' का भी प्रकाशन 'सरस्वती' पत्रिका में हुआ। इस निबंध में बंग-महिला का इतिहास संबंधी ज्ञान और भारतीय

स्त्री के प्रति उनकी समझदारी का साक्ष्य मिलता है। 'पति सेवा' वस्तुतः भावानुवाद है, जो तैयार तो 1905 में हुआ, किन्तु छपा भारतेंदु पत्रिका के अप्रैल 1906 ई. के अंक में। इस लेख का सार कथन है - 'उत्तम पत्नी गृहलक्ष्मी स्वरूप है। वे निज जीवन के पुण्य और प्रेम से गृह को उज्ज्वल कर देती हैं। उनके शासन, प्रेम के पवित्र शासन हैं। उनकी क्षमता और सहनशीलता के आगे पृथ्वी के संपूर्ण दुख यंत्रणा लघु हो जाते हैं। उनके चरित्र की विशुद्धि और पवित्रता देखने से मनुष्य मात्र पवित्र हो जाते हैं। ऐसी लक्ष्मी सी सुशीला नारी जिनकी अर्द्धांगिनी है, वे पुष्प सचमुच धन्य हैं।'²

'स्त्रियों की शिक्षा' में बंग-महिला ने स्त्री शिक्षा पर बल देते हुए लिखा है "सुमाता होने से सुपुत्र होते हैं। यह बात प्रायः शिक्षित समाज के सभी लोग जानते हैं। स्वदेशी एवं विदेशी जितने महानुभावों की जीवनी को देखिए प्रायः उन लोगों की माता सुमाता कहलाती थीं। उन्नत चरित्र, उदार हृदय, सत्यवादिनी, सुशिक्षित और स्वधर्मपरायण होने से माता सुमाता हो सकती है। और केवल सुशिक्षा द्वारा ऊपर कहे सब गुण सहज में प्राप्त हो सकते हैं। बालक की प्रथम शिक्षा माँ के द्वारा होती है। माँ के अशिक्षित होने से पुत्र के शिक्षित होने में बहुत कम आशा होती है।"³

नारी शिक्षासंबंधी अनेक लेख लिखकर बंग महिला ने स्त्रियों को जागृत करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने मौलिक लेखन और अनुवाद, दोनों का आश्रय लिया। 'गृह' उनके द्वारा अनूदित निबंध है। यह बंगला के निबंधकार अविनाश चंद्र दास के निबंध का भावानुवाद है। निबंध के प्रारंभ में बंग-महिला कहती हैं - "इस संसार में गृह की सृष्टि करने वाली एकमात्र

नारी ही है। गृह से समाज और समाज से जाति की सृष्टि हुई है। गृह के द्वारा गृहस्थ आश्रम और समाज के द्वारा जातीय जीवन का गठन हुआ है। इनके गठित होने का मूल कारण केवल नारी ही है। क्या गृह, क्या समाज, क्या जातीय जीवन, सबका प्रधान हेतु एकमात्र नारी ही कही जा सकती है। जिस नारी जाति को कोशकारों ने अबला नाम से पुकारा है, जिन कोमलांगिनियों से एक फूल की चोट भी नहीं सही जा सकती है, भला फिर संसार का कोई कठिन काम उनके लिए कैसे हो सकता है? आधुनिक तत्ववेत्ता ने नारी आत्मा को अपूर्ण और अविकसित कहा है। क्या स्त्रियाँ गृह की मर्यादा स्थापना करने वाली आदि सृष्टिकारिणी हैं? क्या यही अबलाएँ गृहस्थ और जातीय जीवन की प्रधान शक्ति रखती हैं? हाँ, यहीं नारीगण इस संसार की गृह संचालिका होने की प्रधान शक्ति रखती हैं। यदि कोई पूछे गृह क्या है? उसमें मिट्टी, ईंट, पत्थर, काठ आदि के ढेर के अतिरिक्त और क्या रहता है? मैं कहती हूँ इनके सिवा कुछ और भी है। यह गृह केवल ईंट, पत्थर, काष्ठादि का ढेर नहीं। यह सब तो गृह के अस्थि पंजर (ठट्टर) मात्र है। घर में बसने वाले कुटुंबी ही इसके रक्त मांस शरीर है और नारी ही गृहिणी रूप में गृह का प्राण है। जिस घर में दयावती, करुणामयी जननी, देवी नहीं है, जिस गृह में स्नेहमयी, सहोदरा भगिनी नहीं है, जिस घर में स्नेहमयी स्वास्थ्य संवादिनी सरस्वती स्वरूपा भार्या नहीं है, वह गृह उजाड़ जंगल के समान ही है। यह कहावत 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' लोक में प्रसिद्ध ही है। मेरे उपर्युक्त कथन का समर्थन निम्नलिखित वाक्य भी करते हैं -

**माता यस्य गृहे नास्ति, भार्या न प्रिय वादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं, यथारण्यं तथा गृहम्।"**⁴

बंग-महिला ने भारत की अनेक गरिमामयी नारियों की जीवनियाँ भी लिखी हैं। ये जीवनियाँ भी उनके सार्थक स्त्री-विमर्श को प्रमाणित करती हैं। महीयसी नारियों का चरित्र आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरक होता है। नई पीढ़ी इनसे शक्ति भी पाती है और दिशा भी। बंग-महिला द्वारा मौलिक जीवनियाँ तो कम लिखी गई हैं, किंतु बंगला में लिखित अनेक जीवनियों का हिंदी रूपांतरण किया है। 'नारी-रत्न', 'भगवती देवी', एक ऐसी ही जीवनी है। 'भगवती देवी' महान विद्वान और समाज सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर की माता थीं। बंगला में बैकुंठनाथ दास ने अपनी पुस्तक 'नारी-रत्नमाला' में उन पर लिखा था। उसी को आधार बनाकर बंग-महिला ने यह जीवनी प्रस्तुत की, जो 'लक्ष्मी' पत्रिका में 1909 ई. में प्रकाशित हुई। इस जीवनी में अनेक मार्मिक प्रसंग हैं। एक प्रसंग द्रष्टव्य है- "ये उदारचरिता देवी जब काशीवास करती थीं, उस समय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जीवित थे और बहुधा इनके दर्शनों को जाया करते थे। एक बार बाबू साहब ने इनके हाथ में चाँदी के कड़े देखकर पूछा था कि - माँ जी! क्या इतने बड़े विद्यासागर की माता के हाथ में चाँदी के कड़े शोभा देते हैं? इस पर उस वृद्धा ने कहा था कि बेटे विद्यासागर की माता ने हाथों की शोभा चाँदी व सोने के कड़े से नहीं हो सकती। इन हाथों की शोभा तो भूखों को भोजन बनाने और परोसकर खिलाने ही में है। देखो जब अकाल पड़ा था, तब इन्हीं हाथों से खिचड़ी पका-पकाकर नित्य हजारों मनुष्यों को परोसकर खिलाती थी। इस कार्य को मैं इन हाथों की सत्यशोभा समझती हूँ। सचमुच सन 1866 ई. के अकाल में विद्यासागर की माता ने ऐसा ही किया था। इस कथन को गर्वोक्ति न समझना चाहिए। उनका यह कथन प्रत्येक्षर ठीक था।"⁵

'गृह-चर्या' बंग-महिला का एक अन्य महत्वपूर्ण लेख है। स्त्री-विमर्श की दृष्टि से यह लेख भी विशिष्ट है। इस लेख में परंपरा के शाश्वत मूल्यों के पालन पर बल भी है और नई चेतना को अपनाने का प्रोत्साहन भी। इस प्रकार से यह निबंध स्त्री-शिक्षा से संबंधित है। निबंध के अंत की यह पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

"तुम्हारे घर में जो दास-दासी व नौकर मजदूरिन हैं, वे भी तुम्हारी ही भाँति मनुष्य हैं। ईश्वर ने उन लोगों को निर्धन बनाया है, किंतु उन्हें संपूर्ण मनोवृत्तियों से रहित नहीं बनाया है। यदि वे लोग एक रोज भी नागा डाल देते हैं तो कामों के लिए कैसी कठिनाई होती है, यह सोचना चाहिए। निज संतान जिस दृष्टि से देखी जाती है, उसी दृष्टि से उन्हें भी देखना चाहिए। उनके सुख-दुख को समझना, उन्हें स्नेहपूर्वक शिक्षा देना, अपराध व कसूर करने पर उन्हें क्षमा करना, दूसरे समय के लिए सावधान कर देना ही तुम्हारा कर्तव्य है। उन्हें हम बहुत मुँह लगाना, घर की छोटी-बड़ी सब बातें उनसे कहना, उनका हक मारना-ये सब बातें ठीक नहीं हैं। घर की ऐसी कई बातें किसी से मत कहो जिससे लोग घर की बुराइयाँ करें। यदि दुर्भाग्य से सास-ननद के संग कुछ खट-पट हो भी गई, तो दूसरों को बीच में बोलने के लिए न बुलाओ। घर के मनुष्य ही तुम्हारे सुख-दुख में संग देंगे, दूसरा कोई न देगा। इसलिए सदा उनसे मिलकर रहो, लड़ाई-झगड़े की कोई बात ही न उठने दो। ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उन पर ध्यान देने से गृहस्थी स्वर्ग तुल्य हो सकती है।"⁶

बंग-महिला ने अपने देश की स्त्रियों की दशा पर भी गंभीर चिंतन किया है। पाश्चात्य नारी से भारतीय नारी की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है "भारत की ललनाएँ जो पति के साथ

समग्र स्त्रियों की भाँति व्यवहार नहीं कर सकती, उसमें भी कई कारण हैं। सभ्य देश की स्त्रियाँ विद्या में, बुद्धि में, उम्र में, स्वाधीनता में, खाने में, पहनने में, घूमने-फिरने में यहाँ तक कि पत्यंतर ग्रहण करने में भी पति की बराबरी कर सकती हैं। इससे और उनमें पूर्वानुग्रह मूलक विवाह प्रचलित होने से पति-पत्नी में सखा-सखी का भाव उत्पन्न हो जाता है। हिंदू वनिता पति के साथ विद्या, बुद्धि, वय इत्यादि किसी बात में भी बराबरी नहीं कर सकती है। विवाह के उपरांत हिंदू बालिका जिस गुरु भाव से पति को देखती है, वह भाव उसके मन में चिर काल तक उसके मन में बना रहता है। इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि हिन्दू नारी पति का नाम नहीं लेती। उच्च श्रेणी की मुसलमान महिलाओं में यह रीति है कि नहीं, सो तो मैं नहीं जानती, किंतु निम्न श्रेणी की मुसलमान महिलाओं को यह रीति पालन करते मैंने देखा है। संभव है कि यह चाल उन्होंने हिंदू स्त्रियों से सीखी हो। पाश्चात्य रमणी पति के साथ अनबन होने पर चट विवाह-विच्छेद के लिए नालिश करके स्वतंत्र हो जाती है। अशिक्षित हिंदू नारी पति-भक्ति, पति-प्रीति की अन्तः सलिला फलगू नदीवत हृदय में धारण कर आजीवन पतिव्रत धर्म का पालन करेगी और कहेगी, तुम लाख अनीति करो तो करो - **हमें नेह कौ नातो निबाह नेहि।**

पाश्चात्य महिला पति की मृत्यु होने पर शोक वस्तु के साथ ही वैवाहिक परिच्छेद भी मोल ले सकती है। हिंदू नारी के पति के वियोग होने पर सर्व त्यागनी बनकर ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता है। जिस पतिदेव के लिए हिंदू नारी इतना त्याग स्वीकार करती है, उस पर उसकी प्रगाढ़ प्रीति में क्या संदेह है।⁷

बंग-महिला की कहानियों में भी स्त्री-

विमर्श के कई आयाम मिलते हैं। उनकी कहानियों में स्त्रियों के मन की सहजता व स्वाभाविकता का सुंदर अंकन हुआ है। उनकी तीन मौलिक कहानियों में 'दुलाईवाली', 'भाई-बहन', 'हृदय-परीक्षा' और अनूदित कथा रचनाओं में 'मुरला', 'मन की दृढ़ता', 'कुंभ में छोटी बहू', 'संसार-सुख', 'दान-प्रतिदान', 'चंद्रदेव से मेरी बातें' उल्लेखनीय हैं।

'दुलाईवाली' बंग-महिला की ही नहीं, प्रारंभिक हिंदी की एक श्रेष्ठ कहानी है। यथार्थ की भाव-भूमि पर रची यह कहानी मनोरंजन एवं हास-परिहास से परिपूर्ण है - "तुम आज कहती हो हमें तो अभी जाना है। बात यह है कि आज ही नवल किशोर कलकत्ते से आ रहे हैं। आरे से अपनी नई बहू को भी साथ ला रहे हैं। सो उन्होंने हमें आज ही जाने के लिए इसरार किया है। हम सब लोग मुगलसराय से साथ ही इलाहाबाद चलेंगे। उनका तार मुझे घर से निकलते ही मिला। इसी से मैं झट नहा-धोकर लौट आया। बस अब करना ही क्या है? कपड़ा-वपड़ा जो कुछ हो बाँध-बूँधकर, घंटे भर में खा-पीकर चली चलो। जब हम तुम्हें विदा कराने आए ही हैं, तब कल के बदले आज ही सही।

"हाँ, यह बात है। नवल जो चाहें, करावें। क्या एक ही गाड़ी में न जाने से दोस्ती में बट्टा लग जाएगा? अब तुम किसी तरह रूकोगे नहीं, जरूर ही उनके साथ जाओगे। पर मेरे तो नाकों में दम आ जाएगी।

क्यों? किस बात से।"

"उनकी हँसी से, और किससे। हँसी-ठटठा भी राह से अच्छी लगती है। उनकी हँसी मुझे नहीं भाती। एक रोज मैं चौक में बैठी पूड़ियाँ काट रही थी कि इतने में जाने कहाँ से आकर नवल चिल्लाने लगे, "ऐ बुआ! देखो तुम्हारी बहू

पुड़ियाँ खा रही है।" मैं तो शर्म से मर सी गई। हाँ, भाभी जी ने बात उड़ा दी सही। वे बोलीं "खाने दो, खाने-पहनने के लिए तो आई ही है।" पर मुझे उनकी हँसी बहुत बुरी लगी।"

बस इसी से तुम उनके साथ नहीं जाना चाहती। अच्छा चलो, मैं नवल से कह दूँगा कि यह बेचारी कभी रोटी तक तो खाती ही नहीं, पुड़ी क्यों खाने लगी।

इतना कहकर वंशीधर कोठरी के बाहर चले आए और बोले, मैं तुम्हारे भैया के पास जाता हूँ। तुम रो-रूलाकर तैयार हो जाना।

इतना सुनते ही जानकी देई की आँखे भर आई और आषाढ़ सावन की ऐसी झड़ी लग गई।⁸

कहानी में चित्रित उक्त हास-परिहास में स्त्री-विमर्श की झलक मिलती है। कहानी के प्रथम भाग की अंतिम पंक्ति मायका से विदा होती स्त्री के मन की बिछोह का कारुणिक दृश्य उपस्थित कर रही है।

इस तरह बंग महिला ने प्रसिद्ध उक्त कहानी में स्त्री-विमर्श को एक दिशा प्रदान कर रही है। इस संदर्भ में जगदीश्वर चतुर्वेदी का कहना है- "तदयुगीन समाज में स्त्री चेतना एवं स्त्री सरोकारों एवं स्त्री की भूमिका की अवस्था को बड़े ही प्रतीकात्मक ढंग से रूपापित किया गया है। मसलन बंग महिला ने इस कहानी में घूँघट एवं परंपरागत ड्रेस में सजी औरत की बड़ी सुंदर छवि आँकी है -

"उनके कमरे के पास वाले कमरे में एक भले घर की स्त्री बैठी थी। वह बेचारी सिर से पैर तक ओढ़े, सिर झुकाए, एक हाथ लंबा घूँघट काढ़े, कपड़े की गठरी सी बनी बैठी थी।"

इसमें घूँघट वाली की 'कपड़े की गठरी सी' जैसी तुलना बेहद सुंदर बन पड़ी है। 'कपड़े

की गठरी सी' के बहाने स्त्री की अवस्था का एक ही वाक्य में समूचा खाका खींच दिया गया है। स्त्री का बेजान निष्क्रिय, अशिक्षित एवं अज्ञानी रूप कपड़े की गठरी के बहाने पूरी शक्ति के साथ पाठकों के मन को स्पर्श करता है।"⁹

बंग महिला ने अनूदित अपनी मौलिक कहानी 'मन की दृढ़ता' में यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि संबंधों की मर्यादा सुखी जीवन के लिए कितना महत्वपूर्ण है। स्त्री हो या पुरुष मन की उच्छृंखलता मनुष्य के जीवन को नरक बना देती है। कुछ इसी तथ्य को विलायती मेम 'रोज' और मोहनलाल के मित्र सोहन लाल के चरित्र चित्रण में उद्घाटित करने का प्रयास लेखिका द्वारा किया गया है।

इस प्रकार, बंग-महिला की रचनाएँ परंपरा और आधुनिकता के नाम पर पश्चिमीकरण से पोषित संस्कृति के बीच नारी की अपनी भूमिका तय करने के लिए दिशा दिखाती है। बंग-महिला का साहित्य स्त्री की अभिव्यक्ति का द्वार खोलता है। इसमें एक तरफ जड़ रूढ़ियों और अंधविश्वासों को तोड़कर आजादी पाने की छटपटाहट है, तो दूसरी तरफ अभिव्यक्ति की बेचैनी भी। इनके स्त्री-विमर्श में नारी मुक्ति के संघर्ष का स्वर काफी प्रबल है। यह संघर्ष सामाजिक जड़ता, अशिक्षा एवं पुरुषवादी सोच से है। किंतु यहाँ पश्चिम के 'देह उधारू' संस्कृति का समर्थन कहीं नहीं है।

कुल मिलाकर बंग-महिला का स्त्री-विमर्श भारतीय परंपरा से पोषित होते हुए भी रूढ़िगत विचारों से सर्वथा मुक्त है। उसमें विचारों की ताजगी है तो परिस्थितियों की गहरी समझ भी है। उनका साहित्य अपने तार्किक संवाद के माध्यम से स्त्री-विमर्श के लिए निष्पक्ष दृष्टि प्रदान करता है। बंग साहित्य अपनी सीमित संख्याओं के बावजूद

अनुशीलन

स्त्री-विमर्श के लिए संभावनाओं के सार्थक फलक का अहसास कराता है।

संदर्भ : -

1. बंग-महिला-नारी मुक्ति का संघर्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999, पृष्ठ-10
2. पति-सेवा, बंग महिला ग्रंथावली, संपादक-सुधाकर पाण्डेय नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2045 वि. पृष्ठ-112
3. 'स्त्रियों की शिक्षा' उपरिवत पृष्ठ-114
4. गृह, उपरिवत, पृष्ठ-96
5. नारी-रत्न, उपरिवत, पृष्ठ-236
6. गृहचर्या
7. हमारे स्त्रियों की दशा- उपरिवत, पृष्ठ-122
8. 'दुलाईवाली', उपरिवत, पृष्ठ-1-2
9. 'स्त्रीवादी साहित्य-विमर्श', जगदीश्वर चतुर्वेदी, प्रकाशन अनामिका, नई दिल्ली, पृष्ठ-132

संपर्क : L-20, बैंकर्स कॉलोनी, मिठनपुरा, मुजफ्फरपुर, मो. : 9430513217

रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल का मध्यकालीन साहित्यविमर्श

श्रीनारायण पाण्डेय

‘मित्र-संवाद’ रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के पत्रों का संकलन है। लिहाजा उन्हीं दोनों के बीच मध्यकालीन साहित्य और तुलसीदास पर होने वाले विमर्श की चर्चा यहाँ की गई है। दोनों मित्र मार्क्सवादी हैं। विभिन्न मुद्दों पर मत पार्थक्य होने पर भी मैत्री-सत्र अटूट है। जो हिंदी साहित्य में होने वाले मार्क्सवादी-विमर्श से परिचित हैं, वे जानते हैं कि परंपरा के मूल्यांकन पर मार्क्सवादी खेमा दो टाटों में बंट गया था। एक ओर शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, यशपाल और प्रकाश चंद्र गुप्त आदि थे, तो दूसरे खेमे के मोर्चे पर रामविलास शर्मा थे। जहाँ भी अवसर मिला है, वहाँ उन्होंने इस पर लिखा है, कहीं-कहीं तो अवसर निकालकर भी लिखा है।

उनके भक्तिकालीन साहित्य के मूल्यांकन के केंद्र में तुलसीदास है। जीवन के अंतिम दिनों में वे तुलसीदास पर एक किताब लिख रहे थे। आरंभ भी किया था। इस बीच उनकी मृत्यु हो गई। साहित्य अकादमी में दिए गए व्याख्यान एवं कुछेक अन्य निबंधों के साथ ‘भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास’ नाम से पुस्तक साहित्य अकादमी द्वारा संपादित है।

तुलसीदास रामविलास जी के लिए उसी तरह थे जैसे हरिश्चंद्र, प्रेमचंद और निराला एवं रामचंद्र शुक्ल। वे भक्तिकाल को लोकजागरण और आधुनिककाल को नवजागरण कहते थे। उसी भक्तिकाल के एक कवि तुलसीदास थे। तुलसीदास पर किताब लिखने की यह कोई अंतिम इच्छा रही हो ऐसा नहीं है।

अग्रवाल को जो पत्र लिखा था, उसमें लिखा है कि इस साल तुलसीदास पर एक किताब लिखने की सोच रहा हूँ।¹ (मि.सं. पृ-47)

‘मित्र-संवाद’ में छपे उनके एक पत्र में यह मिलता है कि केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी किसी किताब की भूमिका में भक्तिकालीन कवियों की आलोचना की थी। इसका रामविलास जी ने विरोध किया था। रामविलास जी की इस आलोचना पर केदारनाथ अग्रवाल ने अपने पत्र में लिखा कि - तुमने मेरी भूमिका पर कुछ लिखा है। यह सब सही है। मैंने अपनी भूमिका में भक्त कवियों को omit कर दिया था। एक वाक्य में उन पर कुछ कहा गया था, वह ठीक तो था, मगर मैंने उन्हें जन कवियों के रूप में व्यक्त नहीं किया। यह मेरी गलती जरूर थी। मगर हमने अभी हाल में एक लेख लिख कर समाप्त किया है। उसमें मैंने उन्हें Mention किया है। यदि तुम यह पढ़ लोगे तो कभी भी दोष न दोगे। मैं उसे कहो तो भेज दूँ। इसलिए कृपया पुस्तक में मेरी भूमिका को अधूरी समझ कर इसको मेरी ठोंक-पीट का कारण न बना देना।²

(मि.स. पृ - 61)

केदार जी के इस पत्र को पढ़कर रामविलास जी ने उन्हें दो पोस्टकार्ड लिखें।

कार्ड नं. 1 में लिखा कि - तुमने लिखा है कि संत कवियों पर एक वाक्य में कुछ कह गया था। अजी, हजरत आपकी भूमिका में मध्यकालीन हिंदी साहित्य के नाम पर सिर्फ रीतिकालीन कविता दिखाई देती है और तुलसी और सूर एक लंबे से पैराग्राफ में पलायनवादी सिद्ध किए गए हैं। गलती तो थी ही, जिस लेख में इसका भंजन किया है, उसे मेरे पास भेज दो। मैं उसका जिक्र करके बैलेंस बराबर कर दूंगा। ठोंकने-पीटने लायक तुम नहीं हो। जो कुछ कहूंगा, मुहब्बत से। चोली चीर वाली बात याद है न।³

केदारनाथ अग्रवाल ने 18.7.47 के पत्र में वस्तु जगत की आर्थिक प्रक्रिया का भी जिक्र करते हुए लिखा है कि हाँ, तुमने वस्तु जगत की आर्थिक प्रक्रिया के बारे में दो एक बातें लिखी हैं। तुम साहित्य में उस प्रक्रिया को साहित्य में घुमाव, फिराव के साथ रूप बदलकर साहित्यिक रूप में लिखे जाने की बात करते हो। मैं उसे साहित्यिक रूप में नहीं जीवन के रूप में व्यक्त होने देना चाहता हूँ। संभवतः यही मतभेद है। मगर ऐसा किए? हमारी पिछड़ी जनता, हमारे स्तर तक नहीं आ सकती। पहले वह वहाँ आ जाए, फिर आगे बढ़िए। इसलिए, आज का साहित्य जीवन को अधिक अपनाए और उसी के अधिक अपनाए, चाहे उसे साहित्यिकता खोना ही पड़े तो मैं लाभ ही लाभ देखता हूँ।⁴ (मि.सं. पृ 91)

अपने 17.10.47 के पत्र में रामविलास जी ने लिखा है, - साहित्य को आर्थिक व्यवस्था का सीधा प्रतिबिंब समझना हकीकत से इनकार करना है। मिसाल के लिए तुलसीदास ने राजा दशरथ और राजा राम का नाम लिया है, इसलिए तुम उन्हें राज सत्ता का पोषक कर ही छोड़

दोगे।

लेकिन, भरत के चरित्र में उन्होंने जो करुणा भर दी है, उसके मानवतावादी महत्व को बिलकुल भूल जाओगे। तुम यह भी नहीं बता सकोगे कि तुलसीदास ने यह क्यों लिखा।

“दारिद दसान दवाई दीनबंधु, दुरदीन दहन देखि, तुलसी हहा करी।” दरिद्रता को रावण कहना क्या सिर्फ धार्मिकता है।

इस तरह के लेखकों में अपने युग की असंगतियाँ-झलकती हैं। तुलसीदास के सामने समाज का वहीं ढाँचा था जो शास्त्रों में लिखा हुआ था, लेकिन उनकी सहृदयता बार-बार उससे बगावत करती थी। इस असंगति को पकड़ना आलोचक का काम है। इसी तरह मिल्टन का शैतान दुर्गुणों से भरा है। फिर भी वह Renaissance (रेनैसाँ) के विद्रोह का सबसे बड़ा प्रतीक है। तोलस्ताय ने धर्म की घंटी दी थी, फिर भी पूँजीवाद के खिलाफ किसानों के असंतोष को प्रकट करने वाला सबसे बड़ा लेखक वही है। रूसो और वाल्टेयर राजतंत्र के विरोधी नहीं थे, फिर भी फ्रांसीसी राजक्रांति के सबसे बड़े विधायक वही थे। तुम एक पहलू देखते हो, दो विरोधी पहलूओं से मिलकर जो यथार्थ बनता है, उसे भूल जाते हो।⁵ (मित्र-संवाद पृष्ठ- 93)

बात यह थी कि उन दिनों प्रगतिशील खेमे के कुछ लेखकों ने ही तुलसीदास पर पुरानी व्यवस्था का पोषक होने का आरोप लगाया था। उनके ही मत का खंडन करते हुए उन्होंने मिल्टन, तोलस्ताय, वाल्टेयर, रूसो आदि की प्रगतिशील भूमिका का उल्लेख कर कहा कि असंगतियाँ उनमें भी पाई जाती हैं, फिर भी उनकी भूमिका प्रगतिशील मानी जाती है, फिर तुलसीदास पर ही पुरानपंथी होने का आरोप क्यों?

वे तुलसीदास के मानवतावादी पक्ष पर बल दे रहे थे।

इस बीच वे और किताबों पर काम करते रहे, मगर तुलसीदास को भूले नहीं थे। 6.2.74 के एक पत्र में उन्होंने केदारनाथ अग्रवाल को लिखा कि- इधर भाषा-विज्ञान से जी ऊबने पर हम तुलसीदास पढ़ते रहे। राम-सीता, लक्ष्मण-भरत, हनुमान से बहुत अच्छे लगते हैं तुलसीदास। सतह पर बहुत सेवार बहता दिखाई देता है, नीचे बहुत जोरदार रूढ़ियों की चट्टानों से टकराती हुई धारा है।

**लोक को न डर, परलोक को न सोच,
देव सेवा न सहाय, गर्व धाम को न धन को।**

इस उक्ति से सभी रूढ़ियों के ऊपर से उनकी कविता-धारा बह चली है। जब वह (Exstasy) में होते हैं, तब उनके मन के साथ उनकी शरीर, शरीर के रोम-रोम भाव में डूब जाता है।

**सजल नयन गदगद गिरा,
गहबर मन पुलक शरीर।**

एक पंक्ति में Extasy का ऐसा विचार दूसरी जगह नहीं देखा।

रामविलास शर्मा के 6.2.74 के पत्र के संदर्भ में केदारनाथ जी ने लिखा कि तुलसीदास जी अच्छे तो हैं ही। राम-लछिमन-भरत-सीता-हनुमान तो उन्हीं के बनाए हैं। अब इस युग में तुलसी का सेवार ही सब तरफ उतराया फिर रहा है। भारतीय संस्कृत के नाम पर तो वही श्रेष्ठ माना जाता है। बेचारे सतह से नीचे धँसे तुलसीदास के असली मर्म का कोई समझता ही नहीं है। न उसे कोई ऊपर लाता हैं। तुमने वह रूप देखा है, इसलिए तुम कहते हो कि सभी रूढ़ियों के ऊपर से उनकी कविता-धारा बह चली है। उनकी Extasy को देखती नहीं है दुनिया। तभी तो मैं कहा करता हूँ कि रामायण ताबीज बनाकर लोगों ने गले में पहना है और बस कल्याण हो गया सब तरह का। मुझे इसी

रूप से तो नफरत है। पर लोग हैं कि इस बात को सहन नहीं कर सकते।

तुलसी का असली रूप लोग समझे, जनता उसे पहचाने तब वह किसी काम के हो सकते हैं। वह भी परमपूज्य बनकर, प्रातः स्मरणीय बनाकर घोषित कर दिये जायेंगे। जनता अनपढ़ है। उसे पढ़ाना होगा। रामविलास ने मूढ़ जनता को रूढ़ियों में ही जीने का बल दिया, पर रूढ़ियों को तोड़ने का बल तो नहीं दिया, वस्तुतः वह भक्त मात्र मान लिए गए हैं, क्रान्तिकारी नहीं। यह विडंबना है कि हम लोग उन्हें ऊबर नहीं रहे। उनके राम, लछिमन आदि तो स्थापित हैं, परन्तु तुलसीदास विस्थापित हो गये।

आयोजित हुआ था। वह भी वही रूढ़ियों का मेला था।⁶ (मित्र-संवाद, पृ 375)

तुलसीदास पर इन दोनों मित्रों के संवाद को पढ़कर लगता है, केदारनाथ के अनुसार रामविलास का आग्रह रूढ़िवादी तुलसी को प्रतिष्ठित करने पर है, जबकि केदारनाथ उन्हें रूढ़ि भक्त जन कवि के रूप देखना चाहते थे। उनका कहना है कि रामविलास ने मूढ़ जनता को रूढ़ियों में ही जीने पर बल दिया है। उन्हें भक्त मान लिया है क्रान्तिकारी नहीं।⁷ (मि. सं. पृ.375)

इसलिए उन्होंने जब विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तक - 'लोकवादी तुलसीदास' - पढ़ा तो कहा कि - बड़े मनोयोग से लिखी यार ने - मैंने सोचा था कि इस पुस्तक से भ्रम टूटेगा। सिद्ध होगा कि तुलसीदास विस्थापितवादी समर्थन न हो तो। यह भ्रम न टूटा, बल्कि इस किताब से और भी साफ हो गया कि तुलसी अवध के राज्य के आदर्श से भरपूर बँधे थे। और इस पुस्तक से तुलसी की संवेदनशीलता की गहरी अभिव्यक्ति का बोध हुआ, सो ठीक है। तभी तो तुलसी आज तक जन जन-मानस में प्रतिष्ठित हैं। किसानी

संस्कृति के संरक्षक रूप में। तभी तो शोषक और शासक तुलसी का अभिनंदन समान भाव से करते हैं। यहाँ पर तुलसी की भक्ति उन्हें भव सागर में लंगर लगा कर उन्हें आगे बढ़ने से रोक देती है और वह ठहरे हुए रहकर राम का आचरण लिखते रहते हैं।⁸ (मित्र-संवाद पृ. 385)

अकेले केदारनाथ अग्रवाल ही नहीं, बहुतेरे प्रगतिशीलों के मन में यह भाव तब भी बना हुआ था और आज भी बना हुआ है। रामविलास जी ने तुलसीदास की असंगतियों के बीच उनके मानवतावादी पक्ष पर बल दिया था।

रामविलास शर्मा ने जनता और लेखक निबंध में लिखा है कि - संत कवि पलायनवादी नहीं थे। मध्यकालीन साहित्य के वे एक मात्र क्रांतिकारी कवि थे। सामंती जड़ता, जातीय विद्वेष और सांप्रदायिक घृणा के विरुद्ध उन्होंने मानवता की भक्ति को उभारा। जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे उन्होंने ऊँचा उठाया। उनके साहित्य को पढ़कर निराशा, पराजय और दीनता के भाव नहीं उत्पन्न होते। बल्कि आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना ही पुष्ट होती है। निःसंदेह उनके साहित्य में भी असंगतियाँ थी। अंधविश्वास और निराशा की झलक उनके गाथों में मिलती है, परन्तु वह उनके गति का मूल स्वर नहीं है। इस स्वर से उनके राग विशेष का रूप स्थिर नहीं होता। कुल मिलाकर हम उन्हें जन का कवि कह सकते हैं।⁹ (मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य 1984, पृ-23)

जैसा कि हमने शुरू में कहा है, रामविलास

जी रांगेय राघव जैसे प्रगतिशीलों के मत का खंडन कर रहे थे। साहित्यिकी परंपरा लेख में उन्होंने तुलसीदास पर लिखा है।

रामविलास शर्मा ने तुलसीदास को वर्णाश्रम धर्म का समर्थक और प्रतिक्रियावादी कहने वालों को जवाब देते हुए अपने एक लेख 'साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन' में लिखा है कि - तुलसी के काव्य सौंदर्य का जन्म वर्णाश्रम के समर्थन में नहीं हुआ। तुलसी भारतीय जनता की दुःसह वेदना के कवि हैं। तुकों और देशी सामंतों के शासन और अत्याचार के नीचे पिसती हुई भारत की प्रजा को तुलसी से अधिक किसने पहचाना था। किसकी मर्मवादी जनता की दीनता और दरिद्रता को देखकर इस तरह करुणा से भोग उठी थी? क्या हिंदी साहित्य में तुलसी से भी बड़ा कोई भी बड़ी करुणा का कवि पैदा हुआ है।¹⁰

चाहे केदारनाथ अग्रवाल हो, चाहे रांगेय राघव जो तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी कहते थे, उनके भूत का खंडन करते हुए रामविलास जी ने कहा है - तुलसी न सामंतों के पोषक हैं, न ब्राह्मणवादी, तुलसी भारतीय जनता के वेदना के कवि हैं। मानवतावादी कवि हैं।

1974 में तुलसी दास पर जिस पुस्तक को लिखने की बात केदारनाथ अग्रवाल से कही थी, वह किताब तो नहीं लिखी गई, मगर तुलसीदास पर वे बराबर लिखते रहें, आकादमी से छपी पुस्तक उसी का फल है। तुलसी के हृदय जैसे उनके राम हैं, उसी तरह तुलसी भी जनमानस में बसे हैं।

नगेंद्र : सैद्धांतिक आलोचना के मनीषी महेंद्र!

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

नगेंद्र जी के साथ मेरा संबंध और परिचय पत्र के माध्यम से हुआ था। उनसे मिलने के दो अवसर मेरे जीवन में आए। पहला अवसर 1974 में मिला और दूसरा अवसर 1984 में। दोनों ही अवसरों पर संयोगवश उनसे मेरा मिलना हुआ।

पहला अवसर 1974 में तब आया जब मैं अपने कॉलेज के उन दिनों पूर्व सहयोगी मित्र और तत्कालीन इंदिरा सरकार के उप-शिक्षामंत्री श्री देवनंदन प्रसाद यादव के चैंबर में शिक्षा मंत्रालय (शास्त्री भवन) में बैठा था। मैं उनके आवास पर ठहरा हुआ था। तब मैं केंद्रीय हिंदी निदेशालय की पाठ्यक्रम संशोधन समिति के एक कार्यक्रम में आया था और मंत्री जी मुझे अपना मंत्रालय और चैंबर दिखाने अपने साथ वहाँ ले आए थे। उन्होंने बातों-ही-बातों में मुझसे पूछा था कि मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग से इस समय किसको बुलाऊँ। मुझे उनसे एक काम लेना है। मेरे पी.ए. के एक फोन पर वह आ जाएंगे। उन्होंने कहा, प्रोफेसर विजयेंद्र स्नातक को बुला लूँ? मैंने कहा- नहीं, डॉ. नगेंद्र को बुलाइए। उन्होंने अपने पी.ए. से कहा- नगेन्द्र जी को फोन मिलाओ और उनसे कहो कि मैं उन्हें एक जरूरी काम से याद कर रहा हूँ, वह आ जाएं। पी.ए. ने अपने कार्यालय से फोन मिलाया तो नगेन्द्र जी की बेटी ने फोन उठाया। पी.ए. ने पूछा डॉ. साहब हैं, मैं शिक्षा मंत्रालय से बोल रहा हूँ। प्रो. डी.पी. यादव उन्हें याद कर रहे हैं। बेटी ने कहा-पापा तो अभी घर पर नहीं हैं। पर मैं उन्हें फोन से कह देती हूँ कि वे शिक्षा मंत्रालय में मंत्री जी से जाकर मिल लें। आधे घंटे में पापा वहाँ पहुँच जाएंगे। यादव जी ने मुझसे कहा- आप लोग डॉ. नगेंद्र को बहुत मान देते हैं। मैं भी उनसे मिला हूँ। कई बार वे यहाँ आए हैं, शालीन व्यक्ति हैं। हम लोग बातचीत करने लगे। कोई बीस मिनट बीते होंगे कि पी.ए. ने आकर कहा कि डॉ. नगेंद्र आ गए हैं, उन्हें आपके पास ले आऊँ। उन्होंने कहा- हाँ, ले आइए, और मुझसे कहा- देखिए, नगेंद्र जी बीस मिनट में ही आ गए। नगेंद्र जी आए, उप-शिक्षामंत्री को नमस्कार किया। मैं मंत्री जी के दाहिनी ओर बगल की कुर्सी पर बैठा था। मंत्री जी ने उन्हें सामने की कुर्सी की ओर बैठने का इशारा किया और वह बैठ गए। आरंभिक कुशल-क्षेम विषयक बातचीत होने के बाद मंत्री जी ने कहा कि नगेंद्र जी, मैंने आपको एक जरूरी काम से याद किया है। मुझे अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अगले महीने

जाना है और मतदाताओं के बीच एक लीफलेट छापकर बाँटना है कि मैंने दिल्ली में रहते हुए अपने संसदीय क्षेत्र के लिए क्या सब किया है और मुझे उनकी अपेक्षाओं की अधिमानता को भी जानना है कि उनके लिए पहले कौन-सा काम और कराया जाए। मैंने मुंगेर शहर में डेयरी खुलवाई है, बंदूक के कारखाने को आधुनिकीकृत करने के लिए वित्तीय सहायता राज्य-सरकार को भिजवाई है। मैंने मुंगेर में गंगा पर पुल बनाने के लिए अपेक्षित प्रस्ताव योजना से संबंधित आयोग और मंत्रालय को भेज दिया है, जिस पर शीघ्र निर्णय हो जाएगा। उनके स्थानीय और केंद्र सरकार के द्वारा हल की जाने योग्य समस्याओं को जानकर ही मैं उनकी अधिमानता दिला पाऊँगा। इतना कहकर उन्होंने नगेंद्र की ओर संकेत किया कि बगल के सोफा पर बैठ जाएं और मेरा यह काम इस तरह कर दीजिए कि मतदाताओं पर इसका जोरदार प्रभाव पड़े। फिर उन्होंने मेरी ओर हाथ से संकेत करते हुए नगेंद्र जी से कहा कि मैं इनका परिचय आपको कराऊँ और मुझे कहा कि आप प्रोफेसर (डॉ.) नगेंद्र हैं, जिन्हें आप पहले से जानते ही हैं और उन्हें कहा कि आप डॉ. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' हैं। राजा देवकीनंदन एंड डायमंड जुबिली (RD&DJ) कॉलेज में हिंदी के लेक्चरर हैं। बहुत ही सफल और विद्वान अध्यापक हैं तथा बहुत ही प्रतिभाशाली लेखक भी हैं। यद्यपि, नगेंद्र जी के आने के साथ ही मैं उठकर अपना नमस्कार निवेदित कर चुका था। पर उसका ध्यान उस ओर नहीं गया था और उन्होंने मेरे नमन का तब उत्तर नहीं दिया था। अब, मैंने उन्हें दुबारा नमन किया तो उन्होंने सिर हिलाकर प्रति-उत्तर दिया तथा यह कहते हुए कि मैंने इनके आलेख देखे-पढ़े हैं, वह सोफा की ओर चले गए। पी.ए. ने उन्हें एक कागजों-

भरा गत्ता और एक पेन दे दिया। पानी तो वह पहले ही मँगवाकर उन्हें पिला चुका था। नगेंद्र जी ने लगभग तीस मिनटों का समय लिया होगा। वह मंत्री जी के कथन के अनुरूप एक ड्राफ्ट तैयार कर ले आए और मंत्री जी के आगे बढ़ा दिया। उस समय मंत्री जी कोई और काम नहीं कर रहे थे। नगेंद्र जी उनके सामने बैठ गए। मंत्री जी ने पूरा ड्राफ्ट पढ़ा और मुझे देखने के लिए दे दिया तथा कहा- इसे देख लीजिए, इससे अपने क्षेत्र का काम तो चल जाएगा? तभी कॉफी आ गई, चपरासी कॉफी लेकर आया था, उसके साथ एक आदमी और था, पी.ए. भी साथ था। उनमें से जब किसी एक ने कॉफी बनाने के लिए हाथ बढ़ाया तो मंत्री जी ने मना कर दिया और उससे कहा कि आप जाइए। फिर मुझे कहा कि शीतांशु जी, आप कॉफी, बनाइए। तब तक मैं नगेंद्र जी वाला ड्राफ्ट पढ़ चुका था। मैंने यादव जी से कहा- उन्होंने बहुत अच्छा ड्राफ्ट बनाया है, यह काफी असरदार है और अपने क्षेत्र के लिए बहुत उपयोगी है। इसे आप प्रिंट करवा लीजिए। तब तक मैं डॉ. नगेंद्र के हस्ताक्षर मात्र से परिचित था। यहाँ मैंने उनकी हस्तलिपि भी देखी, कहीं कुछ कटाव नहीं, विचारों की पूरी सुस्पष्टता के साथ ड्राफ्ट तैयार कर दिया गया था। मैं कॉफी बनाने लगा, तीन कप कॉफी बनाई और पहला कप नगेंद्र जी की ओर बढ़ा दिया, दूसरा कप यादव जी को और तीसरा कप अपने लिए रख लिया। हम तीनों ने धीरे-धीरे कॉफी पी। यादव जी, नगेंद्र जी से बात करते रहे, कुछ उनके परिवार के विषय में कुछ उनके स्वास्थ्य के विषय में, और कुछ उनके विभाग और विश्वविद्यालय के विषय में। यादव जी ने नगेंद्र जी को इतना अच्छा ड्राफ्ट तैयार कर देने के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया। नगेंद्र जी उठ

खड़े हुए। उनके पास एक कंधे में लटकाने वाला थैला था, जो उनकी कुर्सी पर रखा हुआ था। उन्होंने थैले में हाथ डाला, एक पुस्तक निकाली, उसपर कुछ लिखा और उसे उन्होंने यादव जी को भेंट में, हाथ में पकड़ा दिया। यादव जी ने उसे उलट कर देखा। मेरी दृष्टि भी उधर गई तो पाया, वह पुस्तक डॉक्टर साहिब द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' थी। डॉ. नगेंद्र चले गए। शुभ्रवस्त्र, दुग्ध-धवल कुर्ता और धोती, पाँव में चमक से भरी चप्पल, क्लीन शेव, मुखमंडल में आँखों पर चढ़ा चश्मा और उनकी दृष्टि-भेदी दृष्टि, शुभ्रसित केश करीने से सजे-सँवरे और उनकी सहज चाल। उनका यह बिंब मेरे मन में बस गया। लेखन के माध्यम से मैं डॉ. नगेंद्र से वर्षों पूर्व से परिचित था। संभवतः तेरह वर्षों पूर्व से पर प्रत्यक्ष दर्शन और मिलन तो अभी-अभी हो पाया था।

नगेंद्र जी चले गए। उसके बाद मैं यह सोचता रहा कि डी.पी. यादव जब मुंगेर से सांसद मधु लिमये के विरोध में कांग्रेस पार्टी से खड़े हुए थे तब वह चुनाव में मत माँगने के लिए मुझसे आग्रह-पत्र का प्रारूप तैयार करवाने हेतु आग्रह करने आए थे। पर मैंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि, मैं राजनेताओं के लिए नहीं प्रसन्न मन लिखता हूँ। आज उन्होंने मुझे यह दिखाने का प्रयास किया कि आप अपने जिन विद्वानों पर गर्व करते हैं, वे कैसे मेरे आग्रह पर लिखा करते हैं और इसमें वह सफल भी हुए। लंच का समय हो आया। यादव जी ने मोतीमहल होटल से लंच मँगवाने के लिए पी.ए. से कहा- "नॉनवेज भोजन, चिकन के साथ" और मुझे कहा- मोतीमहल का चिकन बहुत अच्छा होता है। फिर मुझसे बातें करने लगे। मेरा ध्यान खींचते हुए उन्होंने कहा- देखा आपने, आपके बड़े-बड़े

विद्वान मंत्रालयों में दौड़ लगाते रहते हैं और एक बार मेरे मुँह से कोई इच्छा निकली नहीं कि उसे पूरी करने में कभी देर नहीं लगाते। शीतांशु जी, आपको याद होगा कि जब मैं 1971 में मधु लिमये के विरुद्ध सांसद के चुनाव में मुंगेर क्षेत्र से खड़ा हुआ था और आपके पास आया था कि मेरे प्रचार के लिए पर्चे तैयार कर दीजिए, जिससे मेरा आत्म विज्ञापन हो और मतदाताओं के लिए भरपूर आश्वासन। तब आपने मुझे खाली हाथ लौटा दिया था और मुझे कहा था कि मैं साहित्य का अध्यापक हूँ। मैं राजनेताओं के लिए नहीं लिखता, चाहें वे बनने वाले हों या बन चुके हों। मेरे बहुत निवेदन करने पर भी मेरा आग्रह आपने नहीं माना था। आज आपने अपने नगेंद्र जी को देख लिया। मैंने उन्हें कहा कि मंगलमूर्ति और जाबिर हुसैन पहले से ही आपके लिए पर्चे तैयार कर रहे थे, फिर मुझसे बनवाकर आप क्या करते? मेरी यह टेक तो तब भी थी और आज भी है। हाँ, अब आप बहुत निकट हैं और आपने मुझे बहुत निकट कर लिया है। फिर भी आपने मुझसे न कहकर नगेंद्र जी से ही पर्चा बनवाया है। आपने बड़े-बड़े विद्वानों का यह पक्ष मुझे प्रत्यक्ष करवा दिया है। इस ज्ञानवर्द्धन के लिए मैं आपका आभारी हूँ। डॉ. नगेंद्र की जो प्रतिमा मेरे मन में बनी थी, वह खंडित हो गई है। फिर उन्होंने मुझसे कहा- नगेंद्र जी के प्रति आपके मन में जितना मान है, वह भी मेरे सामने आज स्पष्ट हो गया। आपने कॉफी का पहला प्याला बनाकर उन्हें ही दिया, मुझे नहीं दिया। मैंने उन्हें इसकी कोई सफाई नहीं दी।

नगेंद्र जी से मेरी दूसरी मुलाकात सन 1984 में हुई। संभवतः वह चार (04) अगस्त का दिन था। नयी दिल्ली के पटेल मार्ग पर तत्कालीन शिक्षामंत्री (मानव संसाधन विकास मंत्री)

पी.वी. नरसिम्हा राव का बंगला था, वहीं पर एक इंटरव्यू आयोजित था। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (हैदराबाद) जो नामित विश्वविद्यालय था, उसके हिंदी विभाग में उच्च शिक्षा एवं शोध के लिए एक प्रोफेसर का पद विज्ञापित हुआ था। मैं वहाँ साक्षात्कार देने अमृतसर से पहुँचा था। विशेषज्ञों में तीन विशेषज्ञ थे डॉ. नगेंद्र, डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और डॉ. इंद्रनाथ चौधुरी। चौधुरी जी पहले उसी पद पर हैदराबाद में कार्यरत थे। अब वह वहाँ से त्यागपत्र देकर आ गए थे और साहित्य अकादमी में सचिव बन गए थे। उन्हीं के द्वारा रिक्त किया गया पद भरा जा रहा था। साक्षात्कार में पहले रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और फिर इंद्रनाथ चौधुरी ने प्रश्न किए। अधिकतर प्रश्न शैलीविज्ञान और साहित्य की सर्जनात्मक भाषा से जुड़े हुए थे। कुछ प्रश्न अनुवाद, अध्ययन और तुलनात्मक साहित्य से भी जुड़े थे। श्रीवास्तव जी ने इंटरव्यू में ही यह कह दिया था कि आप शैलीविज्ञान के अधिकारी विद्वान हैं। इस पर डॉ. नगेंद्र ने मुझसे पूछा कि शैलीविज्ञान के जिन सिद्धांतों, प्रतिमानों और घटक-तत्वों का आपने यहाँ उल्लेख किया है, उनके आधार पर किसी कहानी में उसकी संघटना दिखाते हुए उसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिए। मैंने कहा, क्यों नहीं, मैं मोहन राकेश की एक कहानी 'सुहागिनें' लेता हूँ। तभी उन्होंने मुझे रोका और कहा नहीं, वैसी कहानी लीजिए जिसे मैं भी पढ़ चुका होऊँ। मैंने उनसे पूछा कि क्या मैं 'कफन' कहानी को ले लूँ? उन्होंने कहा- हाँ, अब आप अपनी बात कीजिए। मैंने मुख्य भाषाई स्तरों पर उसका साभिप्राय अग्र प्रस्तुतीकरण स्पष्ट किया और उसके आधार पर कहानी के निहितार्थ, उसके मंतव्य को उद्घाटित कर दिया। इसपर चयन समिति की अध्यक्षता कर रहे पी.वी. नरसिम्हाराव ने मुझसे कहा कि आप एक सप्ताह

में वहाँ जाने का कार्यक्रम बना लीजिए, जिससे वहाँ अध्ययन की कठिनाइयाँ सामने न आए। मैंने उन्हें इतना भर कहा कि मैं प्रयत्न करूँगा कि मुझे अपने विश्वविद्यालय से शीघ्र अवकाश मिल जाए। मैं साक्षात्कार देकर साहित्य अकादमी चला गया। वहाँ चौधुरी जी आ चुके थे। मैं जानना चाहता था कि मेरा चयन हो गया या नहीं। अध्यक्ष के द्वारा कार्यभार संभालने की बात करने के बाद वहाँ कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं हुआ। उन्होंने कहा- नहीं, आज कोई निर्णय नहीं हो सका। कल पुनः समिति बैठेगी तब अंतिम निर्णय होगा। मैंने जिज्ञासा की क्या इतने अधिक अभ्यर्थी थे, जो आज सबका साक्षात्कार नहीं हो पाया? उन्होंने कहा- नहीं, साक्षात्कार तो सबका हो गया, पर एक-दो लोगों की अनुपस्थिति में उनके व्यक्ति-परिचय पर विचार होना था, उसके बाद ही अंतिम निर्णय होगा। उन्होंने चाय पिलाई और मैं लौट गया। अपने पूर्व आरक्षण के अनुरूप मुझे वहाँ से सीधे जम्मू पहुँचना था, क्योंकि अगले दिन वहाँ प्रोफेसर पद का साक्षात्कार था। तब पंजाब आतंकवाद के दौर से गुजर रहा था। ब्लूस्टार ऑपरेशन हो चुका था और वहाँ राष्ट्रपति शासन लगा हुआ था।

बाद में पता चला कि मुझे दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के प्रोफेसर पद के लिए नहीं चुना जा सका, क्योंकि नगेंद्र जी ने व्यक्ति-परिचय के आधार पर केंद्रीय विश्वविद्यालय हैदराबाद से अवकाश ग्रहण कर चुके चंद्रभान रावत को अपना वीटो लगाकर वहाँ नियुक्त करवा दिया था। श्रीवास्तव जी से फोन पर मुझे यह समाचार मिला कि संभवतः डॉ. नगेंद्र आपसे कुछ रूठे थे, इसलिए होते-होते आपको कटवाकर रावत को रखवा गए।

उसी वर्ष नवंबर के महीने में केंद्रीय हिंदी संस्थान की संगोष्ठी के उपरांत लौटते हुए राजा

की मंडी स्टेशन पर प्रोफेसर त्रिभुवन सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (वाराणसी), प्रोफेसर आनंद प्रकाश दीक्षित, पुणे विश्वविद्यालय (पुणे) और मैं खड़े होकर बातचीत कर रहे थे, तब नगेंद्र जी का और विजयपाल सिंह का संदर्भ आने पर त्रिभुवन सिंह ने हम दोनों के सामने जो कहा वह डॉ. नगेंद्र की स्वीकारोक्ति थी। त्रिभुवन सिंह ने कहा कि डॉ. नगेंद्र विजयपाल की सिफारिशों से तंग आ चुके हैं, वह कह रहे थे कि कैसे DBHPS के पिछले साक्षात्कार में शीतांशु की जेनुइन अप्वाइंटमेंट को काटकर मैंने विजयपाल सिंह के लगातार आ रहे सिफारिशी फोन पर चंद्रभान रावत का कर दिया, जबकि वहाँ शीतांशु को ही चुना जाना था। नगेंद्र जी की इस स्वीकारोक्ति को सुनकर मुझे यह स्पष्ट हो गया कि वे मुझसे रुष्ट नहीं थे, बल्कि उन पर रावत की नियुक्ति के लिए अपने मित्र का दबाव बना हुआ था।

नगेंद्र जी से पहला पत्राचार मैंने तब किया था, जब मैंने एम.ए. की परीक्षा पास की थी। तब मैंने उन्हें वैयक्तिक पत्र लिखा था कि मैं आपके शोध-निर्देशन में पीएच.डी. करना चाहता हूँ। यदि यह संभव हो सकता है, तो करणीय की जानकारी लौटती डाक से देने की कृपा करें। पर इसका कोई लिखित उत्तर उन्होंने नहीं दिया। हाँ, उनके विभाग से एक साईक्लोस्टाइल्ड कागज अवश्य मिला, जिसमें यह निर्दिष्ट किया गया था कि पीएच.डी. करना चाहने वालों के लिए अपने खर्च पर रहकर उस विश्वविद्यालय में पहले एम.लिट् का एक वर्षीय पाठ्यक्रम पूरा करना होगा। बाद में उन्हीं दिनों रमेश वक्षी के संपादन में प्रकाशित होने वाली 'ज्ञानोदय' पत्रिका के पत्र विशेषांक में डॉ. नगेन्द्र का लिखा हुआ पत्र पढ़ा था, जिसमें उन्होंने स्वीकार किया था कि मैंने जीवन में वैयक्तिक पत्र बहुत कम लिखे, हाँ, औपचारिक पत्र लिखे हैं।

मुझे उनका औपचारिक टंकित पत्र या सामान्य निर्देश का अभिसूचन मिलने पर उनकी यह स्वीकारोक्ति याद आ गई। उन्हें दूसरा पत्र मैंने तब लिखा था, जब मैं गुरु नानक देव विश्वविद्यालय में 1977 में रीडर बनकर आया था और मैंने अपने इस नये पदभार को ग्रहण कर लेने की सूचना दी थी और उनकी मंगलकामना चाही थी। तब उन्होंने एक कार्ड पर दो पंक्तियाँ अवश्य लिख भेजी थीं, जिसमें उनकी शुभकामनाएँ थीं।

अपने छात्र-जीवन से लेकर अध्यापक जीवन तक मैंने नगेन्द्र जी की प्रत्येक पुस्तक पढ़ी है और मेरी यह परिपक्व धारणा है कि नगेंद्र जी भी हिंदी आलोचना में तैराकी करने वाले ही आलोचक रहे हैं, गोताखोरी करने वाले आलोचक सिद्ध हो पाए हैं। उनके छिट-फुट निबंधों के दो संकलन 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' नाम से प्रकाशित हुए थे, जिन्हें मैंने पढ़ा था। उसमें 'वाणी के न्याय-मंदिर में' नाम का आलेख मुझे आकर्षक लगा था और पसंद भी आया था। इसमें यथार्थ के साथ कल्पनाशील दृष्टि का मणिकांचन संयोग था। मुझे जो पसंद नहीं आया था और तर्कहीन लगा था वह 'गोदान' पर लिखा हुआ उनका आलेख था, जहाँ उन्होंने 'गोदान' के महत्व को अस्वीकार किया था तथा प्रेमचंद को प्रतिभाविहीन द्वितीय कोटि का उपन्यासकार कहा था। बाद में उनकी 'सियारामशरण गुप्त', 'साकेत एक अध्ययन' तथा 'सुमित्रानंदन पंत' जैसी पुस्तकें भी पढ़ीं। इनमें पंत जी वाली आलोचना पुस्तक पहले छपी थी और इसका नोटिस आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लेते हुए इसका उल्लेख किया है, पर इसकी आलोचना-भाषा काव्यात्मक और रूपकात्मक है। इसके बाद प्रकाशित उनकी आलोचना पुस्तकें विद्यार्थियों, शोधार्थियों और अध्यापकों के लिए

फस्ट हैंड बुक या ऐलीमेंट्री बुक के रूप में सामने आई। चाहे वह पुस्तक 'काव्यबिंब' हो या 'साहित्य का समाजशास्त्र', 'मिथक' पर हो या 'शैलीविज्ञान', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' हों या 'उर्वशी' पर लिखी पुस्तक। वह रीति काव्य के विशेषज्ञ थे। रीतिकाल और देव की कविता पर भी उनकी पुस्तकें हैं। पर डॉ. नगेंद्र की आलोचना का महत्व भारतीय काव्यशास्त्र के उद्धारकर्ता विवेक के रूप में सुस्थिर है और सुस्थिर रहेगा। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में प्रोफेसर रहते हुए 'भारतीय काव्यशास्त्र' के महत्वपूर्ण ग्रंथों का लंबी भूमिका के साथ संपादन किया और इससे संबंधित विषयों पर शोध-कार्य कराए, स्वयं भी जिन बहुतेरी मूल पुस्तकों को संपादित किया उनका भाष्य विश्वेश्वराचार्य से करवाया। दिल्ली विश्वविद्यालय में मानो वह समय भारतीय काव्यशास्त्र का उद्धार-युग था। उन्होंने स्वयं रससिद्धांत पर महत्वपूर्ण काम किया। निर्मला जैन से भी इस क्षेत्र में काम करवाया।

तब हिंदी के विश्वविद्यालय-संसार में नगेंद्र जी के नाम का डंका बजता था। डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरवंशलाल शर्मा और डॉ. विजयपाल सिंह का एक त्रिक (Trio) ऐसा था कि हर चयन-समिति में डॉ. नगेंद्र का निर्णय ही अंतिम निर्णय होता था। वे हिंदी के अधीती आचार्य थे, वह बहुविध ज्ञानी थे, अनुशासन-प्रिय थे और उच्च कोटि के स्तरीय प्रबंध-परीक्षक। वह जो चाहते थे, उसे कर-करा देते थे। शोधकर्ताओं को मौखिकी में ढेर सारे प्रश्न किया करते थे। उनका आतंक ऐसा था कि दिल्ली विश्वविद्यालय में स्वाभिमानी नगेन्द्र ने छात्रों के द्वारा प्राप्त अंक की तालिका को बदलने से इनकार करते हुए बातचीत बिगड़ने पर उसे विश्वविद्यालय कंट्रोलर के कूड़ादान में उसके सामने ही फाड़ कर फेंक दिया था। कहते

हैं तभी से दिल्ली विश्वविद्यालय में चक्रांतरण (Rotation) की प्रक्रिया प्रारंभ हुई जिसकी शुरुआत वहाँ के हिंदी विभाग से हुई।

डॉ. नगेंद्र एक सुलझे हुए विद्वान अध्यापक और आलोचक थे। जहाँ तक उनकी विवेक-दृष्टि जाती थी, वहाँ तक वह पढ़ते-पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' लिखते थे। उनका सारा लेखन सुस्पष्ट है, अस्पष्ट कुछ भी नहीं है। पर उनके रसवादी आचार्य होने से उनकी मान्यताओं के विरोध में कई लोग उठ खड़े हुए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर और नई कविता के कवि जगदीश गुप्त, प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय तथा जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (JNU) के प्रोफेसर नामवर सिंह, उनके प्रबल विरोधी हो गए और नई कविता से लेकर समकालीन कविता तक की पहचान में रस-सिद्धांत की भूमिका को नकार दिया। पर शंकर देव अवतरे ने 'रसप्रक्रिया' नामक अपनी पुस्तक में इन कविताओं में भी रस की विद्यमानता का सोदाहरण निरूपण किया। उन दिनों अज्ञेय ने अपने संपादन में निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'दिनमान' में लिखा था कि कैसे एक रसवादी विदेश की संगोष्ठी में जाते हैं, पर रस-सिद्धांत की अपनी नोटबुक दिल्ली में ही छोड़ जाते हैं और वहाँ व्याख्यान नहीं दे पाते हैं। नगेंद्र जी अपनी साहित्यिक सोच में स्पष्ट थे, उसे अच्छी तरह समझा सकते थे, पर उनमें वाग्मिता वक्तृता की प्रभावी कला का अभाव था। इससे उनके विद्यार्थी भी परिचित थे और उन्हें संगोष्ठी में आमंत्रित करने वाले आयोजक भी। विष्णुकांत शास्त्री ने अपने संस्मरण में इसका उल्लेख किया है कि वे एक संगोष्ठी में उन्हें आमंत्रित करने के लिए नगेंद्र जी के पास आए थे और उन्होंने आमंत्रण स्वीकार कर लिया था और गए भी थे। पर यहीं उन्होंने यह उल्लेख

किया है कि नगेंद्र जी में वक्तृता कला का अभाव था, फिर भी नगेंद्र जी विशेष व्याख्यान-मालाओं में अपना लिखित व्याख्यान पढ़ने के लिए जाते रहते थे। शैलीविज्ञान पर लिखी उनकी पुस्तक विश्वभारती शांतिनिकेतन के हिंदी भवन में उनके दिए हुए व्याख्यानों का ही संकलन है।

डॉ. नगेंद्र के आलोचक जीवन का आरंभ व्यावहारिक आलोचना से हुआ था। बाद में वे सिद्धांत की ओर मुड़े। भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धांत और पश्चिमी साहित्यालोचन के सिद्धांत पर उन्होंने जमकर काम किया। उन्होंने विश्वस्तर के साहित्य-सिद्धांत के चिंतकों, आचार्यों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक संपादित की। स्वयं भी उनका महत्व साहित्य-सिद्धांत के आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठित हुआ। आनंदवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में मूल की पुनर्व्याख्या में उसके नये अनुषंगों के उद्घाटन में मौलिक स्थापना का श्रेय स्वीकार किया है। नगेंद्र जी ने इस सिद्धांत की नई व्याख्या की। इस दृष्टि से उनका महत्व दो बिंदुओं पर स्वीकार्य हुआ। वह साहित्य को आह्लाद का विषय मानते हैं। रोलॉबार्थ ने साहित्य-पाठ को पढ़ते हुए आह्लाद की बात की है, पर उसे उसने यौन-सुख के चरम प्रकर्ष के समांतर माना है, जबकि नगेंद्र उसे लोकोत्तर आनंद का प्रकर्षता मानते हैं। इस दृष्टि से वे भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा को स्वीकारते और स्थापित करते हैं। दूसरा बिंदु जो उनके रसवादी होने के कारण उभरता है, वह आलोचना में सहृदय या पाठक को केंद्रीय स्थान प्राप्त करने का है। नगेंद्र के रसवादी होने की आलोचना तो की जाती रही है, लेकिन उससे ये दो निष्कर्ष भी सामने आते हैं, जिसकी ओर न उनके समर्थकों का ध्यान गया और न उनके कटू आलोचकों का ही। नगेंद्र ने साधारणीकरण पर भी पुनर्विचार किया। इस दृष्टि से वह रामचंद्र

शुक्ल की परंपरा में भी आते हैं। शास्त्र और सिद्धांत की दृष्टि से वह अनायास ही रामचंद्र शुक्ल से जुड़ जाते हैं। पर उन्होंने शुक्ल जी की त्रुटियों की ओर भी इंगित किया है। शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को 'वक्रोक्ति जीवितम्' से जोड़ दिया और उसे उसका विलायती उत्थान माना, पर स्वरूपतः अभिव्यंजनावाद वह है नहीं। जब पश्चिम के आलोचना-सिद्धांतों की चकाचौंध में भारतीय काव्यशास्त्र की उपेक्षा की जा रही हो और उसे आज के साहित्य के मूल्यांकन के लिए असंगत सिद्ध किया जा रहा हो और संस्कृत के आधुनिक आचार्यों में यह प्रतिभा और आत्मतेज नहीं रह गया हो कि वह भारतीय काव्यशास्त्र का पुनरुत्थान कर सकें तो ऐसे समय में हिंदी के इस आचार्य ने भारतीय काव्यशास्त्र के पुनरुत्थान का बीड़ा उठाया और मराठी काव्यशास्त्रीय चिंतकों के समकक्ष साहित्य-चिंतन में उसकी महत्वपूर्ण स्थापना की। इसका श्रेय हिंदी में केवल और केवल नगेंद्र जी को ही जाता है। डॉ.नगेंद्र ने अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की शक्ति-सीमा पर पुनर्विचार किया और उनके आधार पर कविताओं की निर्वचनात्मक साभिप्राय आलोचना तक की। इस संदर्भ में अज्ञेय की 'सोनमछली' का विश्लेषण स्मरणीय है। इसी सरणी पर बाद में राधावल्लभ त्रिपाठी (संस्कृत) और राममूर्ति त्रिपाठी (हिंदी) ने भी कविताएँ विश्लेषित थीं। नगेंद्र जी को दूसरा महत्व इस बात के लिए दिया जाना चाहिए कि जब हिंदी में 'आलोचना के बीज शब्द' जैसी पुस्तक नहीं थी तब नगेंद्र जी ने मिथक, बिंब, समाजशास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक साहित्य, शैलीविज्ञान, नई आलोचना जैसे सिद्धांतों को विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए स्पष्ट करने और बोधगम्य बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पर उनकी व्यवहारिक आलोचना

काव्यालोचन के परंपरित चौखटे में ही फिट रही। इस रूप में ही उन्होंने 'कामायनी' और 'उर्वशी' पर लिखा, जिसे गंभीर आलोचना के रूप में नहीं लिया जा सकता।

नगेंद्र जी का पूरा नाम नगेंद्र नगाइच था। उन्होंने पहला एम.ए. अंग्रेजी में किया था और दूसरा एम.ए. हिंदी में। वे पहले डी.ए.वी. कॉलेज, सिवान (बिहार) में प्राध्यापक थे, फिर कुछ दिनों तक आकाशवाणी में कार्यरत रहे। फिर देशरत्न डॉ. राजेंद्र प्रसाद (भारत के प्रथम राष्ट्रपति) की संस्तुति पर वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में आए। उनके चयनकर्ताओं में एक डॉ. धीरेंद्र वर्मा थे। आरंभ में नगेंद्र जी कविताएँ लिखा करते थे। उनकी कविताओं की तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित भी हुई थीं। उनका सारा महत्वपूर्ण लेखन दिल्ली विश्वविद्यालय में उनके स्थापित होने के बाद का है। यदि रामचंद्र शुक्ल के बाद उनकी परंपरा के किसी सैद्धांतिक आलोचक का उल्लेख होगा तो वहाँ पहला नाम डॉ. नगेंद्र का ही आएगा। सैद्धांतिक आलोचना का यह विरुद्ध न तो हजारीप्रसाद द्विवेदी को दिया जा सकता है न ही नंददुलारे वाजपेयी को और न ही रामविलास

शर्मा को, भले ही नगेंद्र जी ने कालबोध-केन्द्रित (हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी) और अन्वेषणात्मक-अनुसंधानात्मक (हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा) आलोचना नहीं लिखी हो। मार्क्सवादी-जनवादी आलोचकों ने हिंदी-आलोचकों के इतिहास से नगेंद्र जी के नाम को हटाने और मिटाने का जो कुप्रयास किया, वह उनके काम और नाम को मिटा नहीं सका। डॉ. नगेंद्र मुख्यतः काव्यालोचक थे। रीतिकाव्य से लेकर नयी कविता तक उनके चिंतन, मनन और लेखन का विस्तार था। वे अंतर-ज्ञानानुशासनात्मक आलोचक थे। तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद-साहित्य पर उन्होंने शायद सबसे पहले हिंदी में सैद्धांतिक स्थापनाओं का विस्तार किया। वे हिंदी के ऐसे विरल आलोचक थे, जिसकी पहुँच परंपरित संस्कृत सिद्धान्तों और अध्यतन पाश्चात्य सिद्धान्तों तक थी। उन्होंने इन दोनों के बीच सबल सेतु का निर्माण किया। इसके लिए उन्होंने साहित्य-विवेक की दृष्टि से मौलिक स्तंभ खड़े किए। वह एक अत्यंत कुशल प्रशासक, व्यवस्थापक और संयोजक थे। विरोधी-प्रपंचों के बावजूद वह हिंदी आलोचना में चिर स्मरणीय बने रहेंगे।

संपर्क : 'साईकृपा' 58, लाल ऐविन्यू, डाकघर- छेहर्ता, अमृतसर, पिन-143105 (पंजाब),
मो. : 09878647468, E-mail: shitanshu.shashibhushan@yahoo.com

भूख के पंजे मीना सिंह

‘तुमी बुझते पारो ना, एटा मानुषे मनेर भाषा...।’

मैं कौन हूँ, जिससे वह मन की भाषा में संवाद करती है और कहती है - तुम इसे समझ नहीं पाओगे... वह जो उसके साथ दिन-रात रहता है। निकाह पढ़कर उसे घर लाया है। अब जो बड़े-बड़े बेटों - बहुवाली हो गई है। नन्हीं से नातिन भी है अब।

पर मैं कौन हूँ? एक मालकिन ! जिसके यहाँ वह झाड़ू-पोछे का सेवा कार्य करती है। बंगला देश की सीमा फलांग कर मेरे देश में रोजी-रोटी के लिए घर-घर भटकती एक मुसलमान औरत... या एक अक्षांश पर मेरे मन के घर आँगन में डोलती फिरती एक समानधर्मा औरत !....

मैं अपने को खोज रही हूँ वर्षों से। मेरी रचनाओं में आने वाले सभी नारी पात्र मेरे भीतर ही कहीं रहते हैं। समय-समय पर विभिन्न आकृतियाँ गढ़े, जाने अजनाने रिश्ते जोड़ते मेरे सम्मुख खड़े हो जाते हैं। एक कटोरी दाल भात अथवा रोटी के टुकड़े में प्यार और संवेदना का दैत्य भाव लिए पूछते हैं “मुझसे बूझो, हममें से कौन दलित है???

और तमाम बार अखबारी हिज्जों में पूछा जाता रहा यह प्रश्न लगातार मेरा पीछा करता है।

“किन्तु, तभी बुझते पारोना, एटा मानुषेर, मनेर भाषा.....

मेरी गृहस्थी की लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था के दिनों में वह मेरे घर आई थी, मेरी थाली से दो कौर माँगने। सूखे होंठ, फटी साड़ी के पल्लू से सिर ढके -सलमा की माँ। मैली पड़ गई दो-दो काँच की चूड़ियों वाले मैले हाथों से उसने दरवाजा खटखटाया था। और कुछ मुँह और कुछ आँखों से संवाद की औपचारिकता पूरी करके मैंने उसे अपने घर में रख लिया था। रोजमर्रा की सेवा टहल के लिए। एक दूसरे की जरूरतों को बाँटने के लिए। लूटपाट के खतरों के जमाने में एक अपरिचिता को तमाम तरह के संदेहों के उथल-पुथल के बावजूद मैंने उसे घर की सफाई के काम के लिए, कभी-कभार सब्जी आदि काटने के लिए रख लिया था। जल्दी ही वह घर की व्यवस्था में रचपच गयी थी। दो माह के भीतर दो-तीन और घरों का काम उसे मिल गया था। चालीस बयालीस वर्ष की सलमा की माँ अपने थुलथुल शरीर से झटपट काम निपटाती फिर दूसरे घरों में चली जाती थी।

मेरी जाति धर्म, संस्कारों से उसका दूर-दूर का नाता नहीं था। झोपड़

पट्टियों में पानी के अभाव में वह अक्सर बिना नहाये ही आती थी। कभी कपड़ों में पसीने की गंध लिए, कभी अर्ध-स्नान के बाद। यानि पानी कम हो तो, एक दिन मात्र केश धोना, दूसरे दिन कुछ देह की मैल धोना।... फिर कभी पानी हो तो साबुन से कपड़े कछारना...। अनवरत चलती दैन्य की इस अवस्था में जीवन चल रहा था। जैसे वोट की राजनीति चल रही है वायदों की टूटी पटरियों पर।

अपनी नाक को दुर्गंध के झोकों से बचाती मैं उसकी ईमानदार आत्मीयता भरे गंध को भीतर तक महसूस करती मैं, उसे अपनी थाली से दो कौर का हिस्सा कब बना बैठी, मैं नहीं जानती।

अपने हिंदू संस्कारों और ईश्वर में आस्था के कारण जीवन की दिनचर्या में प्रातः स्नान के बाद जब पूजा करने बैठती, तब अन्य कमरों में पोछा लगाती वह कई बार पूजा कक्ष में बाहर ठहर कर आरती की घंटियाँ सुनती और मेरा ध्यान बटते ही संकोच से हट कर पुनः काम में जुट जाती।

इस सारे प्रक्रम में जाने कैसा विश्वास उसे मेरी पूजा और मुझमें पनप रहा था कि एक दिन मुझे कुर्सी पर बैठकर पढ़ते पाकर उसने अनायास चुपके से पूछा था। “भाभी मरने के बाद यदि जन्म हो तो क्या आप मुस्लिम बनकर जन्मेंगी? “अत्यधिक चौंककर भी मैं मुस्कुरा उठी थी।

“मुझे क्या तू अपना बाप बदलने को कह रही है?” “नहीं, नहीं भाभी ! आपकी भक्ति पूजा देखकर मेरा मन शांत होता है। अपने घर में भी खुशी मन से जाती हूँ तो सब आनंदित हो जाते हैं।”

फिर एक दिन ऐसे ही लगा कि किसी ने धीरे से मेरे मंदिर की घंटी बजाई है। सच,

सलमा की माँ ने कमरा साफ करते हुए अपने मैले हाथों अस्वच्छ कपड़ों में ही किसी मनोकामना की घंटी बजाई थी।

इसी अनुशासनहीन आचरण से नाराज हो जाने के बावजूद मैंने जाने क्यों ये बात छिपा ली थी कि उसने बिना जाने समझे मंदिर को स्पर्श क्यों किया। क्षणांश में एक प्रार्थना मन में आई ‘हे ईश्वर। इस विजातीय को क्षमा करके इसके मन की कामना को पूरी कर देना।’...

दरअसल एक दिन दुःखी होकर बताया था सलमा की माँ कि उसका बाईस साल का जवान बेटा गैर कानूनी ढंग से बार्डर पार करते वक्त पकड़ कर जेल में डाल दिया गया है। खबर पाते ही एक वकील से संपर्क करके, उसने बेटे को छुड़ाने की बहुत कोशिश की। किन्तु छः महीने हो गए, वकील कभी दो हजार तो कभी हजार पाँच सौ लेकर आशा की सूली पर उसे लटका कर पुनः नई तारीख के लिए अटका देता है। “घर में खाने के लिए कुछ नहीं बचता भाभी। घर में पाँच-पाँच प्राणी हैं। छोटी-सी नातिन है। जो दूध के लिए छछनती है। आदमी रिक्शा खींचता है। परंतु दिन भर की हाड़ तोड़ कमाई में जो बचाते हैं, वकील के पेट में चला जाता है। गरीब मानुष का पेट कैसे भरे?”

तब एक दिन तीन दिन से भात का एक सूखा कौर पाये बगैर सूखा पपड़िया मुँह लिए, काम के लिए मेरे घर की घंटी बजाई थी।

... और तभी एक दिन उसके विश्वास की घंटी के धीमे स्वर ने उसके बेटे को केस में बरी कर दिया था।... उसके खिले हुए मुख को देखकर अपने हृदय के गर्भगृह में बैठे अपने सनातन विश्वास के प्रति आभार व्यक्त किया था।

मेरी विदेश यात्रा का दिन तय हो गया था। पति की नौकरी का दूसरा जिंदगी अब तक

की जिंदगी में यही किया था। तबादले की नौकरी.... हर तीसरे चौथे साल सामान बाँधना, नई जगह पहुँच कर पुनः खोलना बसना। नये सिरे से नए लोगों से मिलना और जिंदगी को जीने के नए तौर तरीकों को कभी मन कभी विवशता में सीखना स्वीकारना।

.... नई यात्रा की तैयारी में गृहस्थी की अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुएँ बेचकर, आवश्यकता भर सामान भई पैक हो चुका था। बहुत सारा सरोसामान सलमा की माँ को सौंप दिया था। इतना कि उसकी झोंपड़ी में न समाए। संभवतः बहुत कुछ बेचकर "कैश" जमा कर ले। पर वह उन वस्तुओं को पाकर खुश नहीं थी। अन्य घरों में छुट्टी लेकर मेरे घर में आकर पैकिंग में हाथ बटाती या यूँही उदास गुमसुम बैठी रहती। कभी-कभी मैंने उसे चुपचाप आँखें पोंछते भी देखा।

"क्यों रे तू और घरों में काम करने क्यों नहीं जाती आजकल? तेरा आदमी भी गुस्सा नहीं होता?" सुनकर व और जोर-जोर से रोने लगी थी। उसका मैली धोती में लिपटा शरीर मेरे आलिंगन में था।

"भाभी वो क्या बोलेगा। मुझे रोता देखकर इतना ही बोला, 'तू तो देश में माँ-बाप, भाई-बहन सब कुछ छोड़कर आई, तब भी नहीं रोई। अब ये कौन सी भाभी है, जिसके लिए काम-धाम छोड़कर रोने बैठी है?'"

"मैं बोली उससे, कि तुमी बूझते पारो ना केनो, एटा मानुषेर मनेर भाषा।" मैं अब फिर कब पाऊँगी भाभी को? वो कहता है जा भाग अपने देश। मेरे देश का अन्न खाने आई है। मैं कहाँ जाऊँ? तुम्हीं तो मेरे मन में बस गई हो..."

अरण्य पशुओं के पिछड़े हुए देश में पंद्रह वर्ष बीत गये। चोरी, डकैती, लूट के वारदातों से असुरक्षित, बिजली के तारों से घिरे घरों में शाम

पाँच बजे से ले कर सुबह सात बजे तक, ए क्लास जेल जैसा जीवन। रोजी रोटी की तलाश में आदमी दिशा भ्रमण करता है। हमारा पड़ाव उसी देश में पंद्रह वर्ष तक ऐसे ही माहौल में बीता।.... इस यात्रा में इस छोटे से देश में मनुष्य और जानवर के बीच कई समानताएं देखीं। काले हिरण जैसे काले चमकीले देह वाले लोग, बारह तेरह साल में ही स्त्री-पुरुष में शारीरिक भोग का उन्माद, एक वर्जनाहीन समाज का खुला अरण्य !.... जिस देश के एयरपोर्ट की छते तब टिन और एडबेस्टर की थीं, वह सीधे जंगल से निकले आदमी के पास बी.एम.डब्ल्यू. कार।..... कॉलेज के प्रथम परिचय भाषण के बाद कन्डोम बाँटती वी.सी। बोलचाल की भाषा के नाम पर टूटी-फूटी इंग्लिश के शब्द और वाक्य के साथ लोकल जंगल की ध्वनि प्रधान बोली का सहारा, पढ़ाई के अक्षरज्ञान की जगह चोरी और लूटपाट की मेहनत, जिन्हें ज्यादा आसान लगती थी।

परन्तु, भाग्य के धनी थे, वे काले हिरण। उनके देश में हीरे की तलाश में आये गोरे लोग, वहाँ अपनी ब्रिटिश कॉलोनी स्थापित कर वर्षों-वर्षों पराये देश में राज्य और शोषण के साथ उन्हें मात्र अच्छे स्वच्छ वस्त्र पहनना और चर्व के संस्कार तथा नियमों का पालन करना सिखा कर खाली हाथ वो गोरे मालिक... उस देश के हरित क्षेत्र को, मरुस्थली क्षेत्र में बाँट कर वापस लौट गए थे। जान के पूर्व उनके जंगल की ध्वनि प्रधान बोली को अंग्रेजी का स्क्रिप्ट बनाकर लिखना पड़ना सिखा गए थे। उनके जाने के कुछ वर्ष पश्चात् उनकी धरती ने हीरा उगल दिया था। और तब शुरू हुई जंगल से धीरे बी.एम.डब्ल्यू. की यात्रा ने बिना परिश्रम और यातना के बिना आजादी उन्होंने मद्मिजाज और कामचोर बना

दिया था। तभी आजाद देश के काले शासकों ने देश के उत्थान और शिक्षा के प्रसार के लिए अन्य देशों से अध्यापकों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, फौजी शिक्षा के लिए विदेशी एक्सपर्ट को आमंत्रित करना शुरू किया था।

पूरी तरह से परिमार्जित भाषा के अभाव और शिक्षा के प्रति अरुचि के कारण बहुत धीमी गति से विकास और शिक्षा का विस्तार उस देश की हवा को तो बदलने लगा। परन्तु शायद बहुत गहरे अंधेरे जंगलों से निकले लोगों के दंभित संस्कारों को बदलने में वक्त लगना ही था। शिक्षक और पुस्तकों के प्रति सम्मान भी कुछ होता है, ये समझा पाना सेक्स सनातन परिपाटी के आगे गीली लकड़ी में आग सुलगाने की कठिन चेष्टा के बराबर था। जब तक ठीक से सुखाकर न जलाया जाय, तब तक धुँवा ही धुँवा...

उस धुँवे से भरी बदलती हवा के साथ-साथ बदलने लगे, पिछड़े देश में आए नवधनाड्य लोगों के अपरिपक्व आयु के बच्चे भी। आसानी से पाए धन से बौराए लोग। पुरुष विकास के लिए उन्मुख देश में नये-नये धंधे अपनाकर धनी बनने के उद्योग में घूमने लगे इधर-उधर। स्त्रियाँ जो देश में साइकिल रिक्शा में घूमती थीं, नया धन पाकर 'पब' और कैसिनो में देर रात तक वक्त बिताने लगी।

संभवतः नये-नये अर्जित धन के अहंकार को छुपाना आसान नहीं होता।

"कहाँ रह गई थीं आप? पूजा की शुरू हो गई है।" सारी फ्रेंड्स पूछ रही थीं।

"कहीं नहीं ! जरा बच्चों को "ग्रैंड पॉम कैसिनो तक ड्राप करके आ रही हूँ।" बी.एम.डब्ल्यू. की चाभी लगाते हुए उसने जवाब दिया था।

ऊँची आवाज में बोला गया वाक्य मंदिर

के पास खड़े बहुत से लोगों को चौंका गया। व्यंग्य और ईर्ष्या भरी तिरछी निगाहों में धीमी मुस्कुराहट झाँकने लगी।

देश के विकास के लिए दूसरे देशों से बुलाए गये प्रवासी धनी और बुलंद होते चले गये और देश के बाशिर्दे सस्ते में मिली आजादी और दूसरों की मेहनत के बदौलत आरामतलब और काहिल होते गये।

दूसरी तरफ दक्षिणी अफ्रिका के सीमा क्षेत्रों से जुड़े देशों के अनुशासनहीन क्रूर और तानाशाह शासकों के विवेकहीन नियम कानून के चलते, वे देश आर्थिक रूप से कमजोर होते चले गए। आर्मी के सिपाहियों और देश की पुलिस के अत्याचारों से आम जनता त्राहि-त्राहि करने लगी। कमजोर आदमी के पास विरोध करने या किसी प्रश्न के लिए मुँह खोलने का साहस नहीं था।

काले शासक ने वर्षों से बसे मेहनतकश गोरे खेतिहरों को देश से बाहर खदेड़ दिया। देश का बचा खुचा धन तानाशाही शासकों के कब्जों में सिमटने लगा। तब मँहगाई और गिरी आर्थिक परिस्थितियों में सीमा पार कर अन्य देशों में घुसपैठिए बनकर, बिना किसी अनुमति पत्र के छुपछुप कर आए लोग रहने लगे। पुरुषों में निर्दय होकर चोरी डकैती शुरू कर दी। औरतें विदेशियों के घर में कम मूल्यों पर नौकरानियों का काम करने लगीं।

वो देश मेरा नहीं था। परन्तु, अपने देश की सदाशयता और करुणा का चरित्र लेकर जो गई थी, वो मेरे लिए भयंकर कारागार से कम नहीं था।

उसी कारागार-सी जिंदगी के झरोखों और दरवाजों से, पूरे होशोहवाश में मैने देखा भूख के पंजे कितने कठोर ओर निर्दय होते हैं।.....

जीवन के सराय में चरित्रों और जीवन के

अंतर्निहित मर्म को ढूँढने समझने का आग्रह भयंकर पीड़ा और दुर्बोध स्थितियों में डालने लगा।

ऐसी चोटें मन को ही नहीं शरीर को भी घायल करने लगीं।

भूख आदमी को कैसे शेर और बाघ बना देती है.... कि सब एक दूसरे को ही झपट-झपट कर खा लेना चाहते हैं।

“मृत्यु का चरखा भी ऐसी ही सायास और अनायास चलने लगता है। जिंदगी ‘पूनी’ से निकले धागे की तरह लिपटती रहती है। जिसदिन ‘पूनी’ खतम, धागा चट से छूट जाता है।”

समझो जजमान !.... “नहीं टूटती तो हथेली पर उगी पाँच अलग-अलग नाप की उँगलियाँ और उनसे जुड़ी तकदीर तथा नाप के अनुसार बँटे हुए कर्मयोग.... इसमें माँ की कोख का क्या दोष?”

.. हाँ दोष होता है उस परिवेश का जहाँ गर्भाधान के दौरान, भिन्न-भिन्न कारणों से मान-अपमान, प्रतारण अथवा प्यार, दुलार, अनुराग जो अलग-अलग समय में उसकी देह मन का भोजन बन कर उसकी हथेलियों से निकल, उसकी पाँचों उँगलियों में बँट जाता है। भाग्य-अभाग्य, यश सम्मान, शरीर-मन की ऊर्जा बन जीवन की सफलता-असफलता, प्राप्य-अप्राप्य का प्रारब्ध बनता है।”

अब विश्राम जजमान। और कुल पुरोहित आसन से उठ गये....

जिंदगी के बहते प्रवाह के साथ पत्ते सब झड़ गये। बेरंग बेबसा ठूठों की निष्प्राणता विरक्त करने लगी। तभी जिंदगी के किसी निर्जन घाट पर स्मृतियों के बेलाग लहरें, जाने कब कहाँ से आकर हृदय के टूटे, ढीले पड़ गये तारों को झकझोरने लगी।

जिंदगी नदी होती है। न जाने कितने घाट, कितने पड़ाव, समतल, कंकरीले, चौड़े, संकरे रास्तों से कंदराओं से बहती हुई। अनवरत निरंतर शोक, हास्य, पछाड़ खाते रुदन को दुलारती हुई नदी...।

स्मृतियों के खर-पतवार बुहारती महलों के डिंडोलो से उतर द्वार पर खड़े फकीर के पैरों की धूल से लिपट, किसी मंदिर के खोहों में खो जाती है।

...मुँह अंधेरे काम तलाशती, वे घरों की घंटी बजाती। गैर कानूनी ढंग से पराये देश में घुसकर चोरी-चोरी ढूँढना न ही आसान था, न ही सुरक्षित। ठीक उसी तरह उन काली औरतों और लड़कियों को, बिना थाने से प्राप्त परिमित के काम पर रखना ही सुरक्षित था। क्योंकि अचानक औचक से हुई पुलिस चेकिंग में पकड़े जाने पर ‘फाइन्’ तो होता ही तथा उन लकड़ियों को ‘डीपोट’ करके पुनः सीमा के पार छोड़ दिया जाता।

सीमा पर तैनात गार्ड और बार्डर कर्मी ऐसी ही लड़कियों, औरतों से भरी लॉरियों का इंतजार करते रहते। और लॉरी रुकते ही एक-एक करके उतरते ही ताबड़तोड़ उनके बैग तलाशने लगते। एक अमानवीय हिंसक क्रूरता भरा खेल ! बैगों में कुछ नहीं मिलने पर, वो उनके ब्लाउज और ब्रा में हाथ डालकर उनके स्तनों को मसलते हुए, किसी तरह छुपाकर लाये गये विदेशी नोटों को खींचकर निकाल लेते। और छुपाकर उनके देश की उन थोड़ी-सी करेंशी ले जाने की सजा में उनके गुप्तांगों पर अपने गंदे नाखूनों वाले पंजा गड़ा देते। दर्द और चीख की असह्य लकीर उनके चेहरों पर देख उन गार्डों का ठहाका चारों ओर जंगल में गूँजने लगता।....

...कभी दुर्भाग्य की सिहरन और भय से

बार्डर के कच्चे पक्के शौच घर या यूँ ही खुले जंगल के नाले में जबरन बलात्कृत होकर, वे लंगड़ाती हुई मीलों चलकर अपने गाँव पहुँचती थीं। जहाँ अपने प्रौढ़ या बूढ़ी माँओं के पास अपने दूध मुँह बच्चों को छोड़कर पराये देशों में कमाने निकलती थीं। लुटीपिटी माँ को देखते ही बच्चे किलकने लगते और उनके झोले नुमा बैग में कुछ न पाकर रोने लगते थे। माँएँ उदास और चिंतित होती थीं। क्योंकि उन्हीं की कमाई से लाई, मवाई, सर्फ, चीनी, चायपत्ती, खाना पकाने का तेल, बच्चों के लिए चुरी, वैफर्स, सस्ते बिस्कुट आदि से जीवन का चूल्हा चलता था। खाने के लिए मिली मेज और उबला हुआ गाय का मीट अथवा अंडे और शूखे ब्राउन ब्रेड और कभी-कभी बियर के कैन मिलते थे।

पीली पड़ी आँखों की पुतलियों में थोड़ी सी ललाई कुछ महीनों में ही सही दिखने लगती थी। हर वर्ष तो दर्ष में बिना विवाह के रस्मों के अनिच्छित गर्भ और सूखा पीड़ित संतानों का काफिला ढोती वो काली औरतें प्रकृति के वरदान का करिश्मा और पुरुष के वर्चस्व का इच्छा और अनिच्छा से, बिना किसी सामाजिक परंपरा के संस्कारों का पर्दा ओढ़े संभोगरत होती, गर्भवती होती थीं। वस्तुतः बिना ब्याही माँ होना कोई पाप नहीं था, उनके लिए। किन्तु, अपने वर्जेनिटी और गर्भधारण करने की क्षमता का पुरुष साथी को दिया जाने वाला 'टेस्ट' था। नहीं तो भूख के लिए, पेट और परिवार के पोषण के लिए विवशता से ही सही अनेक पुरुषों की संगिनी बनकर रहना पड़ता था। 'टेस्ट' में पास हो गई तो साथी जब तक स्वयं ऊब न जाये खाना, कपड़ा देता था। दुर्भाग्य से निकम्मा निकला तो स्त्री के बचाए पैसे चुराकर चुपचाप रफूचक्कर हो जाता था।

हाँ, वर्जनाहीन उस समाज में स्त्री उसके पलायन का शोक नहीं करती थी। बच्चे को पीठ पर बाँधकर तोलिए अथवा स्कार्फ से पुनः नया संघर्ष, नई तलाश, नई यात्रा भूख के लिये, कपड़े के लिए, दवा के लिये..... भूख के पंजे से बच्चों को बचाने के लिए नई यात्रा शुरू कर देती है।.... घरों में सफाई, बर्तन तथा कपड़े धोने का काम करते-करते छोटी-छोटी चोरियाँ करती है - चीनी की, चावल की, कंदी, क्लिप, पैसों की। घरों से छोटी-छोटी तमाम चीजें अपने बड़े वक्षों के लॉकर में, स्कर्ट के नीचे नेफे में छुपाकर आपके घरों में काम करती अंदर-बाहर होती है। सहमती नहीं। पकड़े जाने पर चुराई चीजें विशेषकर खाने की चीजें, दिखाकर पुनः अपने स्थूल शरीर के कपड़े में छुपा लेती हैं। आँखें चुराकर चुराया हुआ सेब कुतरती हुई निकल जाती है। पुनः कल आने के लिए।...

ये विवशता की बार्डर लाइन न तो मालकिन तोड़ पाती है न ही वो काली औरत ! ... एक कानून तोड़कर दूसरे देश में घुसपैठ करके, रोजी कमाने के साथ-साथ छोटी-छोटी चोरियाँ और क्राइम कर रही होती हैं तो दूसरी ओर इसी बीच मौका पाकर मालिक के घर की सूचना अपने पुरुष साथी को देती हैं। दूसरी औरत या उसका परिवार उस देश के कानून के खिलाफ जाकर घरेलू नौकर के रूप में काम पर रखकर कम वेतन में ज्यादा से ज्यादा काम लेकर उनका शोषण करते हैं। अतः थोड़े नुकसान को पकड़े जाने पर बड़ी रकम का फाइन देना जो आसान नहीं होता, एक तरह की चालाकी भरी मजबूरी में बरदाश्त करते हैं। जीवन में लुका छिपी का ये खेल थोड़ी सावधानी के साथ चलता रहता है।

.... पीली पड़ी पुतलियों और टूटे हुए शरीर के साथ वो आई थी मेरे घर भी। काले

लंबे शरीर पर सिकुड़े केंचुए जैसे बाल, केमिकल मिले सस्ते हेयर लोशन और चमड़ी पर पुती वेसलीन की एक से फैली गंध ने नाम पर हथेली रखने को बाध्य कर दिया था। एक असभ्य आचरण। परन्तु, शंका और चिंता ने क्षणों तक ठिठुरा दिया था मुझे।

“मैम, वर्क वर्क, हंगरी हंगरी” पेट पर हाथ दिखाकर होठों से फुसफुसा कर वह बोली थी। दयनीयता के उस आमरण में भूख के पंजों से जकड़ी हुई उस लड़की को दरवाजे के बाहर ही बैठने का इशारा किया मैंने और ब्रेड के साथ एक पुराने मग में चाय देकर, जैसे अपने ही पेट और मन की भूख को सहला दिया था मैंने। खाकर जब वह थोड़ी स्वस्थ हुई तो आभार की हल्की स्मित उसके फटे होठों पर आ गई थी। उन क्षणों में मेरी नजर उसकी उन मृगी जैसी सुंदर काली आँखों पर पड़ी, जिनके कोनों में सफेद कीचड़ गरीबी को दुत्कार रहा था। “देखा, विधाता, तुमने अपनी ही गद्दी इन सुन्दर आँखों पर क्यों नजर लगा दी?”

बड़ी देर तक बाहर रखे कूड़े के ड्रम के आढ़ में छुप कर बैठी रही थी। फिर बैठी-बैठी शायद सो भी गई थी। परन्तु, बंद दरवाजे के पीछे मेरी आँखें और चेतना दोनों ने ही मुझे सोने नहीं दिया। शाम होने को आ रही थी। सोचा, कि दरवाजा खोल उसे जाने के लिए कह दूँ। तब देखा, कूड़े के ड्रम से एक आधा खाया सेब निकालकर वह कुतर-कुतर कर खा रही थी मैं हतप्रभ देख रही थी। हाथों की वर्जना से कूड़े में पड़ा सेब खाने से उसे रोक दिया था। अंदर से लाकर एक सेब उसे दिया और उसे लौट जाने का निर्देश दिया।

“पोलिस विल कम ऐनी टाइम फॉर सर्व, गो, गो।”

वह काम और भूख के सुव्यवस्थित तलाश में भटक रही थी। शायद कहीं काम मिला भी। और मेरा मन हुआ कि अंदर जाकर जोर-जोर से रो लूँ।

कई माह बाद एक दिन वह शॉपिंग सेंटर के पास अनायास मिल गई थी। पहचान भरी मुस्कान के बाद पुनः एक सेब, ब्रेड और चाय के लिए आभार व्यक्त किया। शॉपिंग सेंटर के आगे झाड़ू और सफाई का काम उसे मिल गया था। पता पूछ कर कभी-कभी मेरे घर आ जाती और मेरे पौधों को पानी दे जाती।

वह उस देश की वर्जनाहीन समाज का एक अधखिला, अविकसित फूल थी, जिसे एक दिन की भूख से बचाकर मैंने जीवन का एक छोटा सत्र शुरू किया था।... वो प्रेशियस थी, मृगा आँखों वाली, जिसके आँखों की कीचड़ ने मुझे रुला दिया था।

मेरे भूख मिटाओ तरल अभियान सत्र की खबर कोने-कोने में फैलकर कई लीथा, पेशेन्स और प्रीटीयों तक पहुँचाकर, उन्हें मेरे दरवाजे तक ले आई थी।

पुलिस की नजर से बचाकर झूठमूठ के किरायेदार का बहाना बना प्रीटी के परिवार को अपने सर्वेंट क्वाटर में रख लिया था। किस्मत अच्छी थी उसकी... एक कर्मठ धर्म भीरु काला ईसाई युवक उसे साथी के रूप में मिल गया था। जिम्बाबवे के एक स्कूल टीचर का लड़का। पिता की मृत्यु के बाद और देश की गिरती अर्थव्यवस्था और सरकारी शोषण के कारण काम के तलाश में इस देश में आ गया था। वह स्त्री भोग का संस्कार और कामचोरी उसने नहीं की थी।

भारतीय हिंदू धर्म की बातें सुनसुन कर परिवार और संबंधों के प्रति एकनिष्ठता का कायल था। कुछ वर्ष बाद, अफ्रीका के विवाह नियमों के

मुताबिक प्रीटी के घर वालों को दो गाय, वस्त्र, कुछ कैश आदि देकर प्रीटी से ग्राम प्रमुखों और दोनों ओर से बुजुर्गों की साक्षी में चर्च में शादी कर ली थी।

प्रीटी का पहला बच्चा मेरे घर के सरवेंट क्वार्टर में ही पैदा हुआ था।

दिन के समय प्रीटी मासिक वेतन पर मेरी अस्वस्थता के कारण घर के मोटे काम कर जाती थी। मुझे मालूम था कि वो आँख चुराकर कभी-कभी थोड़ी चीनी, चावल, चायपत्ती, बिस्कुट चुरा ले जाती है। मेरे ड्रेसिंग टेबल से बची हुई परफ्यूम, वैस्लीन भी लेती है, परन्तु समय पाकर सद्भाव का उत्तर सद्भाव से देना उसने सीख लिया था। चीजें चुराना छोड़ दिया था। और चलना आ जाने पर उसका बेटा छोटे-छोटे कदमों से आकर मेरी पूजा की घंटी सुनकर आ बैठता था, प्रसाद खाता और ठीक से बोलना सीख जाने पर मेरे साथ मंत्र जाप भी करता... आरती की कुछ लाइनें उसे रट गई थीं, सो साथ-साथ गाने की कोशिश भी करता था। ...लीथा उसकी मौसी थी। मात्र चौदह साल की, थोड़ी स्थूल, चपटी फैली नाक वाली बदसूरत लड़की। बोलने में भी रुखी। विदेश में स्वतंत्र जीवन जीने की लालच में छुट्टियों में बहन के साथ इस देश में आ गई थी।

ब्रेडबटर देने के लिए बहन बहनोई थे। अतः सेक्स की उद्धाम उत्कंठा उसे एक के बाद एक पुरुष मित्रों में बाँटती रही। मेरी जानकारी में लीथा दो-दो बार बेटों की माँ बनी। पर कहना आसान नहीं था कि दोनों किन अलग-अलग पिताओं की संताने थे। शारीरिक भोग के मचान पर टँगे युग्म तंत्र टूटते ही विरत हो पलायन कर जाते, फिर होती बच्चों की पोषण की समस्या।... पेट भर अच्छा भोजन न पाने से माँ की छाती में

महीने दो महीने से ज्यादा दूध कैसे उतरता? तीसरे महीने से बच्चों को उबला आलू और 'मिलीमेज' की पतली घुट्टी बनाकर बच्चों को पिलाना। उन्हें 'बोनटीबी' के शिकार हो, अन्य कई बच्चों के साथ लीथा के दोनों बच्चे भी डेढ़ दो साल में चल बसे।

मदर मेरी के आशीष के संस्कार तले अप्रीका की बिना ब्याही माँ न लज्जित होती, न ही अपने कर्तव्यों से भागती। शरीर और बुद्धि से जटिल दीखने पर भी वे ममता और संयम की मूर्ति थी। लीथा बच्चों को खोकर फट पड़ी थी।

उस दिन बहुत दिनों के बाद घुँवाधार बारिस पड़ी थी। कॉलोनी की 'ब्राउंज़ीवाल' पानी के तेज बहाव से ढह गई थी। अंदर लगी फूलों की क्यारियाँ मिट्टी और फूलों की जड़ समेट बहकर तितर-बितर हो गई थी।

उसी समय छाता ओढ़े अधभीगी स्कर्ट पहने प्रीटी संध्या के काम निबटाने आई थी।

"हाउ इज योर सिस्टर लीता... प्रीटी?"

"नो मैम ! शी इज नॉट वेल....नाउ शी इज हैविंग टूबेबी। बट नो मिल्क..." उसने अपनी छाती की ओर इशारा करके बताया था।

बिना दूध के दूसरा नवजात रातभर रोता बिलखता। लीथा तब किसी अन्य सरखी के साथ कमरा शेयर करके रहती थी। दो परित्यक्ता माँए अच्छे भोजन के अभाव में सूख रही थीं। छोटे बच्चों के साथ अब उन्हें कोई काम पर भी नहीं रखता था।

"नाउ आई एम फेडअप विद लीथा मैम। शी डॉट वॉण्ट टू लिसन मी। माई हर्बैंड, ही इज ऑलसो ऐंग्री बिद मी.... वो आलसी हैवऑवर फैमिली। एवरी मंथ हाउ कैन आई बाइ फूड फॉर हर... माई मनी फिनिस्ड। वी आर ब्रोक...

बोलते-बोलते वह सिर पकड़ कर बैठ गई थी।.... तब अपनी पूजा में चढ़ाए पैसों से मैंने

बेबी मिल्क पाउडर का डिब्बा लीथा के बच्चों के लिये भिजवाया था। 'कैश' देना सुरक्षित नहीं था... दूध के लिए मिले पैसों से बियर कैन न खरीद लिए जायें....

पर ये थोड़ी सी सहायता नव शिशुओं को लंबी जिंदगी नहीं दे पाई। खींचतान कर बच्चे डेढ़ दो साल तक ही जी पाये थे। क्या वास्तव में? फिर माँ के स्कार्फ के कफन में लिपटे सो गये थे। संभवतः माँ की असहाय विवशता, उनसे भी सही नहीं गई थी.... बाद में लीथा भारतीय घरों में पुराने कपड़े, चादर, पर्दे आदि लेकर बेचने लगी थी, गुजारा करने के लिए ये शायद आसान लगा था। इन थोड़े से पैसों से रोटी तो मिल रही थी, पर अज्ञात गुप्त रोगों की दवा कैसे मिलती? सरकारी अस्पताल रोग जान लेने के बाद, उन्हें थोड़े पैसे देकर बार्डर पार भेज देते थे। छुपछुपाकर जंगल के रास्ते पुनः बार्डर पार कर कंस्ट्रक्शन साइट पर ईंटें ढोने तथा सब्जी शॉप के सामने फेंकी गई पुरानी सब्जियों में से काम लायक छोटकर गुजारे की रस्म चलती रही थी। फिर एक दिन पता लगा, वह अपने गाँव लौट गई थी। और माँ के गोबर लिपे आँगन के एक कोने में एक दिन रक्तवमन करती मर गई थी।

मैं क्या करूँ? मुझे लगा, कि जैसे मेरी बाँहे छोटी पड़ रही हैं। हड्डियाँ भी अतिरिक्त नहीं कि उन्हें जोड़कर बाहों को लंबा कर सकूँ, तोड़ मरोड़ कर फैंक सकूँ उन भूख के पंजों को। जिन्होंने न जाने कितनों के जीवन को अपने जोर से जकड़ रखा है। पेशेन्स, लीथा प्रीटी या सोनिया... जो दरवाजे पर आते-आते छत तक ऊँचे बड़े तुलसी के पेड़ के पास गिर पड़ी थी। नक्सीर इस तरह भी फूटती है कि रक्त से फर्श रंग जाये? उस देश में 'एड्स' के कारण किसी को भी बिना 'ग्लब्ज' पहने छूना इतना

खतरनाक था कि चाहते हुए भी उसे बर्तन से पानी नहीं दे सकी थी। बस गार्डन पाईप से उसे मुँह धोकर सिर गीला करके, थोड़ी देर वहीं लेट जाने का निर्देश दे सकी थी। बहुत पूछने पर भी इस कदर रक्त को बहने का कारण उसने नहीं बताया था। बस, अंदाज लगाया कि धूप में घूमघूम कर बहुत गर्मी खा जाने के कारण नक्सीर फूट गई है। थोड़ा आराम कर लेने के बाद वो बिस्कुट देकर, ढेर सारा पानी पीने की सलाह के साथ, इलाज के लिए बीस 'पुला' देकर बिदा किया था।

शरीर के भोग को प्यार का नाम देने वाले इस देश में, एक दिन एक 'न्यूज' ने मुझे हैरानी में डाल दिया था। गोसाना अब लगभग अट्ठाईस-तीस की आयु का भावुक काला पुरुष न जाने कब कैसे अपने से बीस वर्ष छोटी बच्ची को न जाने कैसे मोह में, अपने हृदय के कोटर में बसा बैठा था।..."इसी को अपनी वाइफ बनाऊँगा और तब अपने जीवन के अन्य कामकाज के साथ बच्ची के बड़ी हो जाने का इंतजार कर रहा था।.... बच्ची बड़ी हो गई थी। लगभग बारह-चौदह वर्ष की। परन्तु, इसी बीच बिधाता के एक क्रूर परिहास ने हृदय रोग के साथ-साथ बच्ची को देश में फैले हुए वायरल के दौरान लगे इन्जेक्शन के असुरक्षित प्रयोग से 'एचआईवी' से ग्रसित कर दिया था।....

अस्पताल में चर्च के फादर, अन्य कुछ सगे संबंधियों की भीड़ और साक्षी में गोसाना ने अस्पताल के बेड पर पड़ी बारह साल की बच्ची से शादी कर ली थी। सफेद गाउन में एक जिन्दा लाश-सी-पड़ी लड़की के माथे और गाल पर चुंबन लिया था उसने। फादर ने 'होलीवाटर' छिड़ककर और तालियों की गड़गड़ाहट की फिजाओं में विवाह के मंत्रों के बीच गमगीन खुशी के चंद घंटों के बाद ही उस दुल्हन बनी

नव विवाहिता पत्नी को गोद में उठाकर उसने 'कॉफिन' में लिटा दिया था।....

मृत्यु के बाद के सारे रीति-रिवाज खतम हो चुके थे। उस अलौकिक प्यार की फिजा में अचानक तेज बिजली कड़की थी। काले बादल दहाड़ कर बरसने लगे थे। शादी और मय्यत में आए हुए लोग सिर झुकाए, आँखें पोंछते श्मशान भूमि से लौटने लगे थे - भींगते हुए। पर कोई वर्षों तक नहीं जान पाया कि उस घनघोर बारिश में गोसाना कहाँ चला गया? फिर उसे उस दिन के बाद किसी ने नहीं देखा...।

स्वदेश लौटते हुए एक बार बच्चों को बम्बई दिखाने के विचार से एक बार बंबई की फ्लाइट मिल गई। दूसरी फ्लाइट में सात-आठ घंटों का समय था। मालूम हुआ वह ईद का दिन था। जुहू बीच पर मेला लगा था। खाने-पीने के स्टालों के साथ गुब्बारे वालों, चरखी आईसक्रीम के ठोलों से भरा-भरा मेला ठेला... नये-नये कपड़ों में आदमी, औरत, बच्चे खुशी में खिलखिलाता माहौल।.... लोग अपनी-अपनी मनपसंद खाने-पीने का स्टॉलों पर भीड़ जमाए बैठे थे। उस दिन किसी भी दुकानदार को सिर उठाकर बात सुनने की फुर्सत नहीं थी। उस भीड़ में एक सात-आठ साल का लड़का बचे हुए खाने के फेंके जाने के इंतजार में खड़ा था। दुकानदार के हड़काने पर, दुत्कार कर भगाने पर एक स्टॉल से दूसरे स्टॉल की तरफ बढ़ जाता था।

मैं ताज्जुब में थी के खैरात बाँटने वाले इस शुभ त्योहार पर कोई हाथ भूखे बच्चे की तरफ उठा नहीं। प्लेट पर आँखें गढ़ाए लोग

मटन चिकन की हड्डियाँ चिचोड़ते, खुशबूदार कबाब की प्लेट में कहीं कोई मुरझाया चेहरा उन्हें दिखा नहीं शायद।....

थोड़ी देर बाद एक ने उसे बर्तन धोने का काम पकड़ा दिया था - बचे भोजन दे देने के एवम में। बर्तन धोते-धोते उसकी आँखें पनिया रही थीं। और उसने सेवईयों के भगोने में लगी मलाई को चुपके से खरोंच कर चुपके से उँगलियों से चाट लिया था।

और तभी तड़ाक के साथ चिमटा बजने की आवाज से मेरी गर्दन चौंक कर उस तरफ उठ गई थी। ये वही लड़का था, जिसे जूठे बर्तनों से मलाई चाटने पर दुकानदार ने गर्म चिमटा फेंक कर मार दिया था। दर्द और चीख की तेज रुलाई में वह बच्चा रेत पर गिर पड़ा था।

"वाह ! क्या बढ़िया ईदी की खैरात दी तूने गरीब गमजदा को..." मेरी चिखने की गूँज से लोग घिर आये थे।, "लानत है धर्म और त्योहार को.... "और पच्चीस रुपये के नोट मैंने उस दुकानदार के मुँह पर फेंक दिए थे। "ये ले तेरी मलाई के दाम और बना इस बच्चे के लिए 'भेलपूरी' की एक प्लेट।"

भीड़ इकट्ठा हो गई थी। देखादेखी लोग दुकानदार को दुत्कारने लगे थे। और रेत पर बैठा बच्चा ताबड़तोड़ 'भेलपूरी' खा रहा था। जिसके बगल में बैठा एक मरियल कुत्ता जीभ लपलपाता छोड़ी हुई पत्तल वाली प्लेट चाटने का इंतजार कर रहा था।

हाँ, भूख की कोई जात नहीं होती। न नस्ल भेद न ही योनी भेद। ... चौरासी लाख की लपेट में कभी तो आओगे बेटा....।

संपर्क : जी-504, फ्रीडम पार्क लाइफ, (बी.पी.टी.पी.) सैक्टर-57, गुरुग्राम - 122003 (हरियाणा),
सम्पर्क : 0124-4017428

नागार्जुन के उपन्यास और हाशिए के लोग

जय प्रकाश साव

‘हाशिए के लोगों’ से तात्पर्य समाज के ऐसे तबके के लोगों के जीवन से है जो उत्पीड़ित, शोषित, अशिक्षित, भूमिहीन हैं एवं समाज की मुख्यधारा से वंचित हैं और दरिद्रता-रूपी अभिशप्त जीवन जीने पर मजबूर हैं। नागार्जुन के पूरे साहित्य विशेष कर उपन्यासों को देखने पर हम यह सहज ही देख पाते हैं कि उसमें हमें साधारण जन, किसान, मजदूर और सताए हुए लोगों से साक्षात्कार होता है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में गरीबी, अन्याय, शोषण, अशिक्षा आदि का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने अपने महत्वपूर्ण उपन्यासों—‘बलचनमा’, ‘बाबा बटेसरनाथ’, ‘नई पौध’, ‘वरुण के बेटे’, ‘गरीब दास’ और ‘दुखमोचन’ आदि में निम्न-वर्ग के लोगों के अभावों का और संघर्षों का सजीव चित्रण किया है। साहित्य का जीवन से दुहरा संबंध होता है। एक क्रिया रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रियारूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है और प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है।¹

साहित्य में शोषितों का पक्ष लेना और निजी जीवन में भी शोषितों, वंचितों के साथ रहना मुश्किल प्राप्त है। यह सभी साहित्यकारों के लिए संभव नहीं हो पाता है। परंतु नागार्जुन की निजी दुनिया और साहित्यिक दुनिया एक जैसी है। शोषितों की पक्षधरता उनके साहित्य में आरंभ से अंत तक और उनके साहित्य के हर विधा में दिखाई देती है। कविता में तो वे एक जगह शोषितों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए कहते हैं— “प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ- बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त-संकुचित ‘स्व’ की आपाधापी के निषेधार्थ अविवेकी भीड़ की ‘भेड़िया धसान’ के खिलाफ... अंध-बधिर ‘व्यक्तियों’ को सही राह बतलाने के लिए...

अपने आप को भी ‘व्यामोह’ से बारंबार उबारने के खातिर प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ।”²

गाँव में किसान-मजदूर की किस्मत खेतों से जुड़ी है, लेकिन साधारण किसान और मजदूर के परिश्रम का बहुत बड़ा हिस्सा सूदखोरों, बड़े किसानों और जमींदारों की जेब में चला जाता है। फलस्वरूप छोटे किसान व मजदूर सब कुछ बर्दाश्त करके या तो गाँव में मजदूरी करते हैं या गाँव छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए शहर का रुख कर लेते हैं, किंतु वहाँ भी उन्हें उसी

शोषण का शिकार होना पड़ता है। नागार्जुन का 'बलचनमा' ग्रामीण जीवन, उसमें होने वाले परिवर्तन और जनसंघर्ष का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है।

बाल-मजदूरी के विषय में यदा-कदा चर्चा होती है। एक ओर सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगाने के लिए कानून बनाए हैं और तरह-तरह के विज्ञापनों द्वारा बाल मजदूरी पर जन-जागृति लाने का प्रयास करती रही है तो दूसरी ओर कुछ और गैर सरकारी संगठन आदि भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाते नजर आते हैं। इन सबके बावजूद अभाव, गरीब बच्चों को किस कदर विवश कर रही है, इसका यथार्थपरक चित्रण नागार्जुन के 'बलचनमा' में मिलता है। अर्थाभाव के कारण छोटे-छोटे बच्चों के माँ-बाप कच्ची उम्र की अपनी संतानों को दस-बीस रुपयों के लिए मजदूरी पर लगा देते हैं और तो और कुछ तो अपने बच्चों को बेचने पर मजबूर हो जाते हैं। 'बलचनमा' में बाल मजदूरों की समस्या को लेखक ने बहुत संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। स्वयं 'बलचनमा' इसका जीता-जागता सबूत है।

वह भी बाल मजदूर है, गरीबी तथा अभाव उसे 18 से 20 घंटे परिश्रम करने के लिए मजबूर करते है। 14 वर्ष की कच्ची उम्र में ही वह प्रौढ़ मजदूर बन जाता है।

स्वयं 'बलचनमा' के शब्दों में "उसके बाद दादी और मां की राय हुई कि मैं मालिकों की किसी पट्टी में चरवाहे का काम करूँ। दादी ने मना किया था-" अभी खाने-खेलने के दिन है, इसी समय जोत दोगी तो कलेजा सूख जाएगा।"³

सरकार द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के बावजूद आज बाल-मजदूरी असाध्य रोग की तरह शहरों और कस्बों में फैली हुई है। घरेलू नौकर के रूप में, होटलों व ढाबों में बर्तन साफ करते, व्यापारियों की दुकानों पर बोझा ढोते, रिक्शा चलाते, मरम्मत

के काम करते, ताले-चूड़ियाँ बेचते, ट्रेनों व स्टेशनों पर जूते पॉलिश करते, मूँगफली, पापड़, चने आदि बेचते इन बाल-मजदूरों से प्रतिदिन हमारा साक्षात्कार होता है। यह वयस्क मजदूरों से अधिक श्रम करते हैं और पारिश्रमिक आधे से भी कम पाते हैं, साथ ही प्रताड़ना भी सहते हैं।

नागार्जुन ने जो बात 1952 में 'बलचनमा' के माध्यम से कही थी, वह आज के संदर्भ में भी उत्तनी ही प्रासंगिक है। शोषण और अन्याय किसी भी स्तर का क्यों न हो, नागार्जुन उसका तीव्र-विरोध करते हैं, अपने जीवन में भी और रचनाओं में भी। नागार्जुन ऐसे रचनाकारों से अलग हैं, जो अपनी रचनाओं में ही जलेबियाँ छानते रहते हैं। नागार्जुन अपने को साधारण कहलवाना पसंद करते थे और साधारण होना इतना आसान नहीं है। मैं साधारण हूँ, अपने को साधारण ही कहलवाना पसंद करता हूँ। मैं तथाकथित विशिष्ट लेखकों की जमात में नहीं हूँ। सामान्य की कशिश मेरी हड्डियों तक में रची-बसी है। विशिष्ट लेखक तो घुसे रहते हैं साहित्यिक गुफाओं में। घुसेड़े रहते हैं अपने को इंटलैक्चुअल बेसमेंट में, जब तक खुद ही गुफा न बन जाए। अंधेरे में ही रहेंगे ताकि अपना व्यक्तित्व उस पृष्ठभूमि में और चमके, कुछ अनोखा नजर आए। हशमत मियाँ, ऐसी बौद्धिक बेसमेंट-नौटंकी का मैं कायल नहीं हूँ।⁴

इक्कीसवीं सदी के आरंभ से ही दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श आदि चर्चित विषय है। दलित साहित्य हिंदी में अब चर्चित विषय हो गया है। नागार्जुन ने दलित साहित्य संवेदना तब व्यक्त की है, जब दलित साहित्य की दूर-दूर तक चर्चा नहीं थी। दलित पात्र साहित्य में आता भी था तो करुणा के पात्र के रूप में नागार्जुन के उपन्यासों में दलित करुणा के पात्र नहीं, बल्कि अपने हकों के लिए लड़ने वाले पात्र

के रूप में चित्रित हुआ है। उन्होंने, अपने उपन्यासों में दलितों की करुण स्थिति, उनके विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता तथा दलित विकास के लिए उनका स्वाभिमानी संघर्ष भी व्यक्त किया है। 'हरिजन गाथा' उनकी प्रसिद्ध कविता है, जिसमें दलितों के संघर्ष की गाथा व्यक्त की गई है।

उपन्यासों में प्रसंगानुरूप दलित चिंतन व्यक्त किया गया है। 'गरीबदास' उपन्यास दलित चिंतन पर ही समर्पित उपन्यास है।

दलितों पर ढाए जाने वाले जुल्म और आतंक का चित्रण नागार्जुन ने गरीबदास उपन्यास में किया है। गरीबदास अपनी परछाई से ही बोलते हैं—“तू उसका क्या कर लेगा? मालिक लोग चमारों की बस्ती को फूँक देंगे, सौ-पचास इंसानों को जलाकर खाक कर देंगे...तो भी मालिक लोगों का तू क्या बिगाड़ लेगा?”⁶

दलितों के विकास के जो मार्ग नागार्जुन ने व्यक्त किए हैं, वे डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर के ही विचारों के अनुसार हैं। डॉ. अंबेडकर ने पहला मार्ग दिखाया था शिक्षा का। शिक्षा ही सभी गरीबों और दलितों के विकास का एकमात्र साधन है। शिक्षा का अभाव दलितों के दुरावस्था का कैसे कारण है यह नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन ने अभिव्यक्त किया है। रतिनाथ कुल्ली राउत के संदर्भ में सोचने लगता है, “अगर यह भी ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ होता तो निश्चय ही इसके बदन पर फटे-पुराने कपड़े न होते। हमारा जून खाकर, हमारा पहिरन पहनकर इनके बच्चे पलते हैं। उन्हें कभी स्कूल और पाठशाला जाने का अवसर नहीं मिलता।”⁶

किसी भी मानव में शिक्षा प्राप्त होने से स्वाभिमान निर्माण होता है।

स्वाभिमान, आत्मसम्मान ही मानव के उत्थान

में सहायक सिद्ध होते हैं। नागार्जुन मानव समाज की सामूहिक प्रगति में दलितों का विकास आवश्यक मानते हैं। वे इसे किसी के विरोध में नहीं देखते। विकास की धारा में समाज के हर हिस्से का विकास वे आवश्यक मानते हैं। समाज के सभी-घटकों का विकास ही समाज को सुंदर बना सकता है। इस कड़ी में दलितों का विकास और मुक्ति होनी चाहिए, यह नागार्जुन की विचारधारा है।

नागार्जुन की आँखों से शायद ही कोई युगीन समस्या ओझल हुई है। उन्होंने अपने युग-स्पंदन को दूसरों के माध्यम से महसूस नहीं किया था, बल्कि स्वयं बहुत करीब से महसूस किया था यानी स्वानुभूत किया था। राजनीतिक भ्रष्टाचार हो या धर्माडंबर, आर्थिक असमानता हो या सामाजिक वैषम्य, नागार्जुन ने सभी विषयों पर समान अधिकार के साथ केवल लिखा ही नहीं, बल्कि हाशिए के लोगों के पक्ष में खड़े भी रहे। किसी के पक्ष में होना किसी के विरोध में होना होता है। कई साहित्यकार अपने निष्पक्ष होने का दावा करते हैं। ऐसे साहित्यकार निष्पक्ष साहित्यकार तो हो सकते हैं, प्रगतिशील साहित्यकार नहीं हो सकते। प्रगतिशीलता के लिए शोषितों के पक्ष में होना आवश्यक है। नागार्जुन के उपन्यासों में लोक (शोषित) की वेदना व्यक्त हुई है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं—“नागार्जुन लोकमन और लोकमत के भी उपन्यासकार हैं। वे लोकमन को जानते हैं, उसके संकेतों को पहचानते हैं और उससे सहज आत्मीयता अनुभव करते हैं। लोकमन से अंतरंगता के कारण वे लोकमत के बनने, बदलने, जड़ीभूत होने पर टूटकर पुनः निर्मित होने की प्रक्रियाओं से भी खूब परिचित हैं। वे लोकमत के जड़ीभूत तत्वों की आलोचना करते हैं और उसके अनुभववाश्रित यथार्थपरक

अग्रगामी तत्वों को विकसित करने में लोक की मदद करते हैं।⁷

धर्म की आड़ में ढोंगी व पाखंडी युगों से आम आदमी को दिग्भ्रमित करते आ रहे हैं। 'इमरतिया' या जमनिया का बाबा' में दंभी बाबा 'नरबलि' का नाटक भी करता है। नर-वध का जो वर्णन है, वह दिल को दहला देने वाला है। भ्रष्ट महाधीशों की कलई खुलती है—'इमरतिया से पूर्व की सधुआइन लक्ष्मी से जो एक पुत्र पैदा हुआ (किसी बाबा का ही पुत्र) उसे छह महीना लगते दुर्गापूजा के अवसर पर छोटा-घड़ियाल, सिंगा गाड़ा की तुमुल ध्वनि के बीच उसकी तड़पती माता के सामने पुजारी द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर हवन कुंड में झोंक दिया गया।'⁸

धर्म की आड़ में वासनापूर्ति भी खूब चलती है। नागार्जुन ने मठों के बहाने धार्मिक शोषण का चित्रण किया है। भोली-भाली युवती इमरतिया हमारे सामने है, जो शारीरिक और मानसिक रूप से शोषित होती है। दरअसल, नागार्जुन अपने समय की बर्बरताओं को प्रस्तुत करते हुए समाज व देश की आँखें खोलते हैं। जागरुक बनाने का प्रयास कर रहे होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत के जन-जीवन में शोषण के विविध रूपों को लेखक ने बड़ी शिद्दत और प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है।

मानवी जनसंख्या में लगभग आधी आबादी नारियों की होती है। भारत देश में इस आधी आबादी की स्थिति काफी दयनीय रही है। नारी हमारे समाज में सबसे अधिक शोषित तबका रही है। उनके शोषण की कोई सीमा नहीं रही। उनके शोषण के विरुद्ध कोई बहुत बड़ा आंदोलन भी खड़ा नहीं हो सका। नागार्जुन अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री जीवन की समस्याएं जैसे अनमेल विवाह या विधवा समस्या तक ही सीमित नहीं

रहे। उनकी सहानुभूति अपने जीवन में किसी गलती से बनी पतित नारियों और वेश्याओं तक पहुँची है। साहित्य में पतित तथा वेश्याओं के प्रति बहुत कम सहानुभूति दिखाई देती है। साहित्य में पतित नारियों को एक गौण पात्र के रूप में ही चित्रित किया जाता रहा है। नागार्जुन के उपन्यासों में ऐसी नारियों के संदर्भ में भी सहानुभूति व्यक्त की गई है तथा उनके पुनर्वसन के विचार को व्यक्त किया गया है। उन्होंने एक पूरा उपन्यास ही ऐसी नारियों पर लिखा है। यह वेश्याओं की बस्ती को आधार बनाकर लिखा उपन्यास है। नागार्जुन रचनावली के संपादक शोभाकांत इस संदर्भ में कहते हैं—'पटना के जिस भिखना पहाड़ी के जिस मकान में वे रहने लगे थे, वह पूरा का पूरा कुंभीपाक में दिखता है।'⁹ कुंभीपाक उपन्यास में उम्मी की माँ यानी मामी, चंपा और भुवन ये तीन पात्र हैं, जो वासना के भूख से पतित हो गईं। चंपा और भुवन तो विधवा थीं। मामी अपना पति जीवित होते हुए भी भटक गई थी। नागार्जुन चंपा के कथन के माध्यम से समस्त नारी जीवन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—'नहीं, खुश नहीं हूँ। कोई भी औरत खुश नहीं है। अच्छे घर की अच्छी बहुओं से जाकर पूछो, वे भी खुश नहीं हैं। हाँ हमारी घुटन और किस्म की है तो उनकी घुटन और किस्म की होगी।'¹⁰

अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नागार्जुन के उपन्यासों में भारतीय समाज के हाशिए के लोगों—दलित, शोषितों, किसानों, मजदूरों, पतिता नारियों आदि की पीड़ा को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि मैथिल कोकिल विद्यापति का राग, कालिदास का सौंदर्य, तुलसीदास का वैविध्य, कबीर और भारतेन्दु का व्यंग्य-विद्रोह, निराला की व्यापकता, केदारनाथ अग्रवाल की लोक संवेदना,

मुक्तिबोध की बौद्धिकता के साथ युग-बोध को यदि एक साथ कहीं देखना है तो वह अकेले नागार्जुन में ही देखा जा सकता है। नागार्जुन के गद्य साहित्य में कहीं से भी हमें न बनावटीपन दिखता है, न आडंबर, न झूठ, न आरोपण हाशिए के लोगों के सच्चे पैरोकार थे बाबा नागार्जुन।

“नागार्जुन ही शायद हिंदी में अकेले गद्यकार हैं, जिन्होंने आधुनिकता की चुनौती को समाजवादी क्रोध द्वारा सहज और अनायास रूप में स्वीकारा है और यह क्रोध उनके पोर-पोर में समाया हुआ है।”¹¹

संदर्भ :

1. विचार और अनुभूति : डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 25
2. शोभाकांत, नागार्जुन, रचनावली-1, खंड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 130
3. नागार्जुन : बलचनमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 6
4. शोभाकांत, मेरे साक्षात्कार/कृष्णा सोबती से,

किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994, पृ. 135

5. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली-खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 491
6. वहीं, पृ. 47
7. संकलित निबंध, मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, वर्ष 2008, पृ. 139
8. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली-खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 427
9. शोभाकांत, भूमिका, नागार्जुन रचनावली-खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 5
10. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली-खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 178
11. मदान, डॉ. इंद्रनाथ, हिंदी उपन्यास एक नई दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1995, पृ. 38

राजेश जोशी की आलोचना-दृष्टि पीयूष कुमार (शोधार्थी)

समकालीन हिंदी कवियों ने आलोचना के क्षेत्र में भी दखल दी है। राजेश जोशी भी उनमें से एक हैं। अपने समकालीन रचनाकारों की रचनाओं का मूल्यांकन करते समय वे तटस्थ और किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त रहते हैं। उनका समीक्षा-संसार संस्कृत साहित्य से लेकर हिंदी, अंग्रेजी, रूसी और उर्दू साहित्य तक व्याप्त है। उनके इस आलोचना-कर्म में भक्तिकाल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक की कविता, कहानी, नाटक, आलोचना और उपन्यास शामिल हैं। राजेश जोशी की दूसरी आलोचना-पुस्तक 'समकालीनता और साहित्य (एक कवि की दूसरी नोटबुक)' का दूसरा संस्करण 2015 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने अपने समय की कविता और गद्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व उनकी पहली आलोचना-पुस्तक 'एक कवि की नोटबुक' का प्रथम संस्करण 2004 में आ चुका था। इन ग्रंथों में वे अपने समय से निरंतर संवाद करते चलते हैं।

राजेश जोशी की दूसरी आलोचना-पुस्तक महत्वपूर्ण और विवेच्य है। इस पुस्तक में पाँच खंड हैं। पहले खंड का शीर्षक है- 'कुछ टिप्पणियाँ'। इसमें पाँच लेख हैं, जिनमें बाजारवाद, भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद और प्रौद्योगिकी आदि से उत्पन्न खतरों की ओर संकेत किया गया है। इस खंड के अंतिम लेख में हिंदी की महत्ता को सिद्ध करते हुए वर्णित किया गया है कि हिंदी सभी भाषाओं के लिए ढाल की तरह है जो सभी भाषाओं और बोलियों को बाजारवाद के तिलिस्म से बचाने का उपक्रम कर रही है। दूसरे खंड का शीर्षक है- 'एक कवि की दूसरी नोटबुक'। इसमें कुल 36 लेख हैं। सभी लेख कवि के विचारों को प्रकट करते हैं। इन लेखों में मुक्तिबोध, शमशेर, त्रिलोचन, वेणुगोपाल, मीरा, ललधद, अक्कमहादेवी और भारतेंदु युग के कवि तेग अली उर्फ गुंडा कवि की कविता का मूल्यांकन और विश्लेषण किया गया है। इन रचनाकारों पर बहुत ही सार्थक और सटीक टिप्पणियाँ की गई हैं। इस खंड के लेखों को पढ़ते हुए लगता है कि कवि अपनी कविताओं में जिस बात को नहीं कह पाया है, वो यहाँ कहने की चेष्टा कर रहा है। शायद इसीलिए इन छोटे-छोटे लेखों में एक काव्यात्मकता है, एक रसानुभूति है। इसके अलावा ये लेख कहीं-न-कहीं एक विस्तृत शोध की दिशा की ओर भी इशारा करते हैं।

इस पुस्तक के तीसरे खंड का शीर्षक है - 'कुछ कवि कुछ किताबें'। इस खंड के लेखों में प्रसाद के नाटकों के अलावा मायकोव्स्की, नरेश मेहता, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ सिंह और चंद्रकुंवर बर्तवाल की कविताओं

की विवेचना की गई है। इस खंड के 10 लेखों में त्रिलोचन की 'नगई महारा' और मलय की 'निर्मुक्त अधूरा आख्यान' जैसी लंबी कविताओं पर भी विस्तृत चर्चा मिलती है। चौथे खंड का शीर्षक 'कुछ कवि और कुछ और किताबें' है। इस खंड के 6 लेखों में मनमोहन, अरुण कमल, विष्णु खरे, बद्रीनारायण, लीलाधर मंडलोई, सुदीप बनर्जी, मालवा के लोक कवि भावसार बा और देवीप्रसाद मिश्र की कविताओं का मूल्यांकन किया गया है। पाँचवाँ खंड 'गद्यकाल' है जिसमें कुल 11 लेख संकलित हैं। इन लेखों में प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी', हरिशंकर परसाई की व्यंग्य यात्रा, नामवर सिंह की आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी की जीवनी, श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' और स्वयंप्रकाश की कहानियों पर सविस्तार प्रकाश प्रक्षेपित किया गया है। इस पुस्तक के अंत में 'अरघान' शीर्षक से 'रामचरितमानस' पर भी एक लेख है। इस लेख में राजेश जोशी तुलसी की सामंजस्य चेतना पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। उनका कहना है कि - 'बहुत निपुणता के साथ तुलसी निर्गुण संप्रदाय की विद्रोही चेतना को अवमूल्यित और अदेखा कर देते हैं।' तुलसी न तो निर्गुणधारा से टकराने का कोई बौद्धिक जोखिम मोल लेते हैं ना ही सगुण और निर्गुण के बीच एक संतोषजनक सामंजस्य ढूँढ पाते हैं।' इसके अलावा जोशी जी तुलसी की दलित और स्त्री विरोधी छवि को भी उजागर करते हैं। भक्ति आंदोलन के उद्भव के संदर्भ में वे पुरुषोत्तम अग्रवाल की मान्यता से इत्तेफाक रखते हुए तुलसी की सफलता में भक्ति आंदोलन की विफलता बताते हैं। इसके बावजूद वे तुलसी को अद्वितीय कवि मानते हुए मानस की नाटकीयता और संप्रेषणीयता की तारीफ करना नहीं भूलते।

राजेश जोशी अपनी कविताओं की तरह

अपनी आलोचना में भी अधिकतर रूपकों के सहारे प्रवृत्त होते हैं। उनकी आलोचना भी मुहावरेदार और सूक्तिपरक है। वे दो-टुक लहजे में अपनी बात कह देते हैं। उनकी टिप्पणियों को पढ़कर कई बार ऐसा लगता है कि जितनी आसानी से हम उनको पढ़ लेते हैं, उतनी आसानी से वो लिखी नहीं गई है। इसके पीछे उनका गहन चिंतन और अध्ययन शामिल है। राजेश जोशी न केवल मुख्यधारा के अपितु अलक्षित, अचर्चित रचनाकारों को भी तवज्जो देते हैं। उन्हें इस बात की चिंता भी है कि ऐसे रचनाकारों की चर्चा क्यों नहीं हो पाती? वे इन शब्दों में अपनी चिंता जाहिर करते हैं - हमारे कवि अपने आप में इतने खोए हुए रहते हैं कि उन्हें किसी दूसरे को याद करने और दर्ज करने की कोई परवाह ही नहीं है। उनके काव्य स्रचिबोध में दूसरे के लिए या तो जगह ही नहीं है या बहुत कम जगह है।' ध्यातव्य है कि वे ऐसी उम्मीद कवियों से कर रहे हैं, समीक्षकों से नहीं। प्रकारांतर से वो कहना चाहते हैं कि कवियों को अपनी और अपने समकालीन कवियों के लिए आलोचना के प्रतिमान खुद ही तय करने होंगे।

राजेश जोशी एक उत्कृष्ट कवि, उम्दा नाटककार, सफल कहानीकार, कुशल अनुवादक, निष्पक्ष संपादक व पत्रकार और एक गंभीर आलोचक हैं। लेकिन, वो मूलतः कवि हैं और एक श्रेष्ठ कवि हैं। इसलिए यह देखते हुए सुखद अनुभूति होती है कि केवल कविता का ही मूल्यांकन उनकी आलोचना के दायरे में नहीं है, बल्कि उनकी आलोचना का दायरा कविता से लेकर कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आलोचना, निबंध, नाटक, जीवनी और यात्रावृत्तांत तक व्याप्त है। इस पुस्तक के बारे में उनका कहना है कि - 'इस दूसरी नोटबुक में इतना ही फर्क है कि इसमें गद्य की कुछ किताबों पर गाहे-बगाहे लिखी गई

टिप्पणियों को भी शामिल किया गया है।' राजेश जोशी का मानना रहा है कि विभिन्न विधाओं के बीच आवाजाही बनी रहनी चाहिए। शायद इसीलिए उनकी किताब 'किस्सा कोताह' उपन्यास, संस्मरण, गप्प, आत्मकथा और आख्यान का मिलाजुला एक साहित्यिक रसायन लगती है।

राजेश जोशी इस कृति में समकालीन, अग्रज और अनुज साहित्यकारों पर तटस्थ और द्वंद्वरहित होकर सार्थक टिप्पणियाँ करते हैं। इससे पता चलता है कि वे इन रचनाकारों और रचनाओं से कितनी गहराई तक जुड़े हैं। शमशेर के विषय में वे कहते हैं कि - "शमशेर विनम्र थे, दिखते भी थे पर मुझे लगता है कि वे अपने काव्य कौशल के प्रति जिद्दी भी थे।" इसी प्रकार एक लेख 'आवारगी और कविता' में वे टिप्पणी करते हैं कि - 'वेणुगोपाल की कई कविताएँ अपनी आवारगी के चलते ही बनी हैं। पंकज सिंह और वीरेंद्र डंगवाल की कविता में आवारगी और सतर्कता के द्वैत और संतुलन के बहुत दिलचस्प उदाहरण दिखाई देते हैं।'

इसी तरह वे कवि विनय दुबे, नरेश मेहता, बद्रीनारायण, सुदीप बनर्जी, आलोक धन्वा और केदारनाथ सिंह आदि पर अपनी राय देते हैं। राजेश जोशी जहाँ कहीं भी अपनी असहमति भी दर्ज करते हैं, वहाँ कभी भी उनका स्वर कटु, रोषपूर्ण या आक्रामक नहीं होने पाता। बहुत ही शांत और विनम्र भाव से वे अपनी बात कहते चलते हैं। कवियों के अलावा कथाकारों और आलोचकों पर भी महत्वपूर्ण उक्तियाँ हैं। प्रेमचंद, हरिशंकर परसाई, विश्वनाथ त्रिपाठी, शशांक, विनोदकुमार शुक्ल, दूधनाथ सिंह और नामवर सिंह आदि के विषय में वे बहुत सावधान, तटस्थ और सहज होकर अपना वक्तव्य देते हैं। दूधनाथ जी के बारे में उनका कहना है कि - 'दूधनाथ सिंह की एक बड़ी खूबी है कि जब-जब नदियों

का जिक्र आता है, वे लगभग मुक्त होकर वर्णन करने में खो-से जाते हैं। इसलिए, उनकी अयोध्या के किनारे पर सरयू नहीं है, सरयू के किनारे अयोध्या है।' दूधनाथ जी के उपन्यास 'आखिरी कलाम' को वे 'आस्था के अंधत्व का आख्यान' कहते हुए इस रचना का युगानुकूल विवेचन करते हैं। वे अपनी आलोचना में तुलनात्मक पद्धति का भी इस्तेमाल करते हैं। 'आखिरी कलाम' की चर्चा के समय 'उदास नस्लें', 'आग का दरिया' और 'झूठ-सच' का भी स्मरण किया है। रचनाओं के अतिरिक्त रचनाकारों का भी तुलनात्मक अध्ययन द्रष्टव्य है। दूधनाथ सिंह और विनोदकुमार शुक्ल के विषय में कहते हैं "दूधनाथ सिंह कविता को लगभग गद्य में सम्भव बनाते हैं और विनोद गद्य को लगभग कविता में।" इसी क्रम में राजेश जोशी अपने समय से प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह की आलोचना की सीमाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं कि - "नामवर सिंह की आलोचना को हर वक्त एक बनाम, वर्सेस की जरूरत होती है। इस बनाम को कभी खलनायक कहा गया है और कभी शत्रु।" नामवर जी की किताब 'कविता के नए प्रतिमान' को वे नई कविता का डिफेंस बताते हैं। इन सब के अतिरिक्त नामवर जी की विद्वता और उनकी आलोचना की उपयोगिता के वे बड़े कायल थे। वे कहते हैं कि - "उनमें (नामवर जी में) साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक अनुशासनों के साथ रचना के संबंध को रेखांकित करने का अद्भुत कौशल है।' वे निरंतर बहस करते हुए आलोचक हैं। उनमें निर्णय देने की कोई हड़बड़ी नहीं है।"

जैसा कि पूर्व वर्णित है कि राजेश जोशी के आलोचना-कर्म का दायरा मध्यकाल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक व्याप्त है। वे विभिन्न काव्यांदोलनों और कालखंडों के साहित्य का बड़ी बेबाकी, किन्तु सहजता से विश्लेषण करते चलते

हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों को यदि उधार लेते हुए कहा जाए तो कह सकते हैं कि इस पुस्तक में राजेश जोशी विभिन्न कालखंडों की विभिन्न विधाओं का कोना-कोना झाँक आए हैं। इसी क्रम में छायावाद, प्रगतिवाद, नकेनवाद, अकविता और नई कविता का विवेचन करते चलते हैं। प्रगतिवाद के विषय में वे कहते हैं कि “प्रगतिवाद का कवि घुमक्कड़ तो था पर आवारा नहीं था।” इसके अलावा नकेनवाद पर बहुत कम चर्चा होने पर उन्हें शिकायत भी है। प्रयोगवाद और नई कविता पर बात करते हुए प्रपद्यवाद या नकेनवाद की धारा को अक्सर अलक्ष्य कर दिया जाता है या चलते-चलते टिप्पणी करके हिंदी आलोचना उससे किनारा कर लेती है।” राजेश जोशी किसी काव्यांदोलन पर लगे दोषों का भी निस्तारण करते हैं। जैसे अकविता आंदोलन की पहचान यौनिकता के ही आधार पर करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि “अकविता को यौन बिंबों की आक्रामकता और भाषाई अराजकता तक सीमित करके देखना उसका अधूरा पाठ है।” वे नई कविता का भी उल्लेख करते हैं। राजेश जोशी ने नई कविता के बाद की हिंदी कविता के लिए नया टर्म ‘उत्तर नई कविता’ प्रयुक्त किया है और इसके अंतर्गत पाँच कवियों को सम्मिलित किया है। ध्यान देने वाली बात है कि जिस प्रकार रामविलास शर्मा छायावाद के केंद्र में निराला को और नामवर सिंह नई कविता के केंद्र में मुक्तिबोध को प्रतिष्ठित करते हैं, उसी प्रकार राजेश जोशी ‘उत्तर नई कविता’ के केंद्र में एक नहीं पाँच-पाँच कवियों - रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, कुँवर नारायण और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को प्रतिष्ठित करते हैं। एक ओर तो यह उनकी मौलिकता और

महत्वपूर्ण स्थापना है तो दूसरी ओर उनकी मोनोपोली नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक सोच का प्रतिफलन है। साफगोई, सधी हुई, सहज-सरल काव्यात्मकता भाषा और पूर्व नियोजित सुचिंतित विचारों से लैस राजेश जोशी की कृति ‘एक कवि की दूसरी नोटबुक (समकालीनता और साहित्य), अपने समय के जानने, समझने और आत्मसात करने के लिए दृष्टि प्रदान करती है और आलोचना-जगत में धीरे-से अपना स्थान बना लेती है।

संदर्भ/सहायक ग्रंथ :

1. जोशी, राजेश, (2018), कविता का शहर : एक कवि की नोटबुक, नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन
2. जोशी, राजेश, (2015), एक कवि की दूसरी नोटबुक : समकालीनता और साहित्य, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
3. मेहेर, छबिल कुमार, (सं.), (2018), राजेश जोशी संचयिता, पंचकूला, आधार प्रकाशन
4. जोशी, राजेश, (2014), किस्सा कोताह, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
5. श्रीवास्तव, परमानंद, (2015), कविता का अर्थात, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
6. देशमुख, वर्षा, (2017), राजेश जोशी का काव्य : संवेदना और शिल्प, कानपुर, विद्या प्रकाशन
7. विश्वास, विनय, (2019), आज की कविता, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
8. जोशी, राजेश, (2020), वह हँसी बहुत कुछ कहती थी, दिल्ली, सेतु प्रकाशन
9. जोशी, राजेश, (2017), प्रतिनिधि कविताएँ, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
10. शर्मा, रामकिशोर और मानव, विश्वम्भर, (2019), आधुनिक कवि, प्रयागराज, लोकभारती प्रकाशन

संपर्क : हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, रायां सुचानी, बगला, जिला साम्बा, जम्मू-कश्मीर, मो. : 9628502509, piyush77agrahari@gmail.com

जातीयता के विरुद्ध कबीर का संघर्ष

चंदन साव

कबीर आजीवन जातीयता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। जाति प्रथा भारत की दुर्दशा का बहुत बड़ा सबब है। प्राकृतिक रूप से मनुष्य मात्र एक है। जातियाँ कृत्रिम दीवारें हैं, जिन्होंने मानवों को एक दूसरे से अलग कर रखा है। ये दीवारें हमारे यहाँ बहुत मजबूत दिखाई देती हैं, लेकिन यथार्थ में ये मजबूत नहीं हैं। इनकी मजबूती का आधार हमारी मूर्खता और अंधविश्वास है। मनुष्य-मनुष्य में भेद करना हम भारतीयों की सबसे बड़ी भूल है। हमें भारत को सुदृढ़ बनाना है तो ये दीवारें तोड़नी होंगी और जातीयता को समूल नष्ट करना होगा। इसकी अनदेखी से मनुष्य-जीवन कभी सफल नहीं हो सकता। मध्यकाल में कबीर ने जातीयता के जहर से भारतीय समाज को छुटकारा दिलाने हेतु कहा -

“जाति न पूछे साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।

मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।”

स्पष्ट है कि सज्जन या महात्माओं की जाति न पूछकर उसके ज्ञान को समझना चाहिए। तलवार का मूल्य होता है, न कि उसकी म्यान यानी उसे ढकने वाले खोल का। कबीरदास जाति का खंडन करते हुए कहते हैं कि जाति का पता लगाने के चक्कर में पड़कर अपने हीरे के समान जीवन को व्यर्थ मत बर्बाद करना। कितनी बड़ी बात उन्होंने कही कि तलवार की धार देखना, ऊपर का खोल बहुत अच्छा हो तो वह मत लेना। जाति मत पूछना, बल्कि यह पता लगाना कि ज्ञान है या नहीं, ज्ञान पूछना। साधु जाति-पाँति की भावना से ऊपर उठकर ईश्वर की भक्ति करते हैं। वे जाति-पाँति को महत्व न देकर ज्ञान को महत्व देते हैं। जबकि साधारण मनुष्य ज्ञान को याद नहीं रखते और जाति-पाँति के झगड़ों में उलझे रहकर समाज को छिन्न-भिन्न करते हैं तथा सामाजिक विषमता को बढ़ावा देते हैं। तत्कालीन समाज में कबीर, नानक, रैदास आदि संतों ने सामाजिक विषमता को बढ़ाने वाली अंध आस्थाओं पर करारा प्रहार किया ताकि मानवता विभाजित न होने पाए।

कबीर जाति-पाँति की तुलना में कर्म को श्रेष्ठ मानते हैं -

“ऊँचे कुल का जनमिया, करणी ऊँच न होइ।”

कबीर ने स्वयं को परिश्रम से उपार्जित धन का उपयोग करने वाली श्रमजीवी जाति बताते हुए कहा है -

“हम तौ जाति कामीनाँ।”¹

कबीरदास जिस जाति पर बल देते हैं वह परिश्रमी अर्थात् कर्मशील है, वह मनुष्य जाति है। कहना न होगा कि कबीर कर्म को महत्व देते हैं। इसीलिए,

कबीर चाहे जिस जाति में पैदा हुए हों, इससे हमें कुछ भी लेना-देना नहीं है, क्योंकि वह जाति जिससे मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न होता है, उसे सृष्टिकर्ता ने नहीं बनाया। इसका ठोस प्रमाण यह है कि संतान जब पैदा होती है तब उसकी कोई जाति नहीं होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जल-जंतु आदि जातियाँ परमेश्वर कृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातिया, वृक्षों में पीपल, वट, आम्र आदि; पंक्षियों में हंस, काक, वकादि; जलजंतुओं में मत्स्य, मकरादि जाति भेद है वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र आदि। मनुष्य का यह वर्ण भेद उसके गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर तय करना राजा और विद्वानों का काम था। तुलसीकृत 'रामायण' में गोस्वामी तुलसीदास ने श्री राम को बार-बार 'आर्य' कहा है और रावण को 'अनार्य'। कहीं भी 'राम सिंह', 'रावण प्रसाद पांडे' या 'विभीषण मिश्र' नहीं आया है। 'महाभारत' में कहीं भी 'कृष्ण कुमार यादव' नहीं देखने को मिलता है। काश! आज भी ऐसा होता तो किसी को शादी-ब्याह या जन्म-मरण में दिक्कतें न होती।

भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है। उस समय समाज को व्यवस्थित रखने में यह बहुत मददगार रही, किंतु मध्यकाल में इस व्यवस्था का स्वरूप विकृत हो गया। कारण यह कि देश में उग्र सांप्रदायिकता की आँधी चल रही थी। जाति भेद खूंखार जाति-युद्ध बन रहा था। जाति के विकृत रूप ने समाज को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर पारस्परिक कटुता, संघर्ष और वैमनस्य को प्रश्रय दिया। उच्च कही जाने वाली जाति ने अपने वर्गहित हेतु ईश्वर और धर्म की आड़ में इस व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश की। कबीर का विरोध वेद-शास्त्र पर आधारित वर्ण-व्यवस्था से नहीं

था, बल्कि लबेद वाले वर्ण-व्यवस्था से था। इस बात की पुष्टि कबीर के शब्दों से ही हो जाती है कि जन्म से कोई ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता है -

"जौ तूँ बाँभन-बभनी जाया।

तौ आन वाटहवै क्यों नहीं आया।"²

जन्म ही से कोई मुसलमान भी नहीं होता है -

"जौ तूँ तुरक तुरकनी जाया।

तौ भीतर खतना क्यों न कराया।।"³

प्रचलित आर्य धर्म में वैदिक काल और उपनिषदों का समय भारतीय चिंतन को दर्शन-विचार की सर्वोत्तम ऊँचाई पर ले जाता है। लेकिन भारतीय मनीषा के दुर्बल होने पर कर्मकांड और पुरोहितवाद प्रबल हुआ जिससे समाज में कई विसंगतियाँ आईं। ब्राह्मणों का यह आग्रह था कि वे सबसे श्रेष्ठ समझे जाएं। उनके कार्य, अधिकार और कर्तव्य को पैतृक माना जाए तथा उन्हें सदा के लिए ब्राह्मण स्वीकार किया जाए ताकि वे अन्य वर्णों के गुरु तथा स्वामी माने जाएं। उन्हें ही वेदों के अध्ययन, उसके अर्थ करने, यज्ञ करने-कराने तथा विद्या प्राप्त करने का अधिकार रहे। इस प्रकार ब्राह्मणों ने अपनी उच्चता स्थापित करने हेतु अनेक प्रयत्न किए। कर्म-आधारित वर्ण व्यवस्था, जन्मना, जातिवाद में तब्दील हुई और दार्शनिक क्षमता के अवरुद्ध हो जाने के फलस्वरूप बह्याचार को प्रमुखता मिली। एक ऐसे कर्महीन पुरोहित वर्ग का विकास हुआ, जिसने श्रद्धा-आधारित, दायित्व-संपन्न धर्म को भय की ओर मोड़कर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति की। आत्मा और ईश्वर मूलतः सर्वोपरि अवधारणाओं में हैं, जिनसे मनुष्य को उच्चतम नैतिक धरातल मिलता है। आत्मा अजर-अमर है, फिर भय कैसा? निर्भय होकर कर्तव्य-पालन करो, चाहे प्राणों की ही बलि क्यों न हो जाए! ईश्वर मनुष्य की सर्वोत्तम परिकल्पना है - अपने मूल्य समन्वित गुण-समुच्चय

में जो कभी साकार है, कभी निराकार। दोनों तत्व अगोचर हैं, इसलिए निहित स्वार्थों ने इनका गलत उपयोग समाज को आतंकित करने हेतु किया। श्रद्धा-विश्वास का स्थान भय-आतंक ने ले लिया। निर्गुण काव्य धारा के कबीर ने इसे चुनौती दी। उन्हें मालूम है कि बहुदेव के कारण जाति-बिरादरी के संघर्ष होते हैं और भारतीय मध्यकाल से लेकर आधुनिक समय तक इसे देखा जा सकता है। पहले धार्मिक कारण थे, अब राजनीतिक अधिक। इसलिए, कबीर का आग्रह अगोचर देव पर है जो हमारे अंतःकरण में वास करता है और जिसे पाने के लिए किसी कर्मकांडी मध्यस्थ या वाह्याचार की आवश्यकता नहीं है। वह एक है जो सबमें समान रूप से वास करता है। वह सबके घट-घट में बसा है और कण-कण में रमा है। एकदेववाद का आग्रह पुरोहितवाद को भी दुर्बल करता है और जाति-उपजातिवाद को भी अप्रासंगिक मानता है। कबीर ने कहा, ईश्वर-अल्लाह एक है, फिर संघर्ष कैसा? उनके एकदेववाद में भारतीय अद्वैतवाद और सूफियों के उदारपंथ की प्रेरणा भी है तथा इससे वे सांस्कृतिक सौमनस्य का प्रतिपादन करते हैं। कबीर ने वैचारिक स्तर पर, उन मुद्दों पर प्रहार किया, जिनसे सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था निगति की तरफ अग्रसर थी : कर्मकांड, मूर्तिपूजा, पुरोहितवाद, बहुदेववाद, जातिवाद, वाह्याडंबर आदि। कबीर ने मनुष्य-मनुष्य में जातिगत (जन्मगत) भेद करने को अनुचित माना -

**“एक बूँद, एक मल मूतर एक चाम एक गुदा।
एक जाति थे सब उपजा कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।”⁴**

कबीर पंडित के मत को इस कदर निरास करते हैं -

**“काहें की की जै पाँडे छोति विचारा।
छोतिहिं से उपना संसारा।**

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।

तुम्ह कैसे ब्राह्मण पाँडे हम कैसे सूदा।।”⁵

प्रायः हमारे यहाँ जो कबीर पर आलोचना हुई है, वह खेमेबाजी से बुरी तरह प्रभावित हुई है। आलोचना की दुनिया का यह गैर ईमानदार रवैया कबीर जैसे प्रतिभावान रचनाकार के साथ सही न्याय नहीं करने वाला रहा है। आलोचक अपने वर्गीय पूर्वग्रहों से कुछ इस तरह ग्रस्त हैं कि वे अपने चश्मे में तनिक भी हेर-फेर करना नहीं चाहते हैं। डॉ. धर्मवीर ने लिखा है : “कबीर का चिंतन आग की तरह जलता है। इसके सामने वेद और ब्राह्मणवाद भस्म हो जाते हैं।”⁶ यहाँ ऐसा लग रहा है कि कबीर के नहीं, बल्कि डॉ. धर्मवीर के चिंतन के आगे वेद आदि भस्म हो जाते हैं। क्योंकि, कबीर ‘ब्राह्मणों’ की उस व्यवस्था का विरोध किए हैं जो अज्ञानता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, पर वे कभी ज्ञान परंपरा का विरोध नहीं करते हैं। वे अद्वैतवाद को मानते हैं। उन्होंने सबकुछ भारतीय या सनातन परंपरा से ग्रहण किया था। और जहाँ कहीं भी ऐसा कुछ आ जा रहा है जो एक स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक है, उसका विरोध तिलमिलाने वाली भाषा में कबीर करते हैं। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह अकारण ही नहीं कहा है : “कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे, साफ कहते थे। जब मौज में आकर रूपक और अन्योक्तियों पर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे, वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था। उनकी कविता में कभी सनातन सत्य खंडित नहीं हुआ। जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे। इसीलिए, सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियाँ बेधने वाली होती थीं।”⁷

आज से लगभग साढ़े छह सौ वर्ष पूर्व समाज में पौराणिक धर्म का प्रभाव था। पौराणिक

परंपरा में कर्मकांड पर अधिक बल दिया जाता था। इसीलिए, कबीर ने इसका विरोध तथा खंडन किया। एक अपढ़ व्यक्ति के साहस की यहाँ दाद देनी होगी, क्योंकि उसने अपने समाज में जो देखा और महसूस किया उसको उजागर भी किया। अगर कबीर को वेद के दर्शन हुए होते तो उनकी रचनाओं में चार चाँद लग जाता। लेकिन, दुर्भाग्यवश उनके समाज में लबेद को ही वेद बताया गया होगा और इस लबेद की दीवानगी का पाखंड बहुत के सिर पर चढ़कर बोल रहा था। यह जो लबेद था उसे नकली पंडितों ने अपने स्वार्थपूर्ति हेतु निर्मित किया था। जीवन के अनुभव से प्राप्त सच बहुत को मालूम होते हैं, लेकिन उस अनभै सच को बयां करने का माद्दा कबीर जैसे वीर में ही हुआ करता है। ऐसा सच कहने वाले कबीर को अगर वेद के दर्शन हुए होते तो वह आज हमारे लिए कितना कल्याणकारी होता! कबीर कभी वेद की निंदा नहीं करते, क्योंकि वे भले ही वेद-शास्त्र न पढ़े हों, लेकिन उनके पदों में वेद-शास्त्र के दर्शन हो जाते हैं। इसीलिए, कबीर जहाँ कहीं भी यह कहते हैं - 'पढ़े बेद औ करे बड़ाई। संसैगांठि अजहुं नहि जाई।'⁸

अथवा,

"अंध सो दरपन बेद पुराना। दरबी कहा महारस जाना।"⁹

अथवा,

"चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुकुति कै मरमउ नहुं नहि जाना।"¹⁰

अथवा,

"पंडित भूलै पढ़ि गुनि बेदा। आपु अपनपौ जाने न भेदा।"¹¹

यहाँ असल में कबीर ने उन पाखंड रूप वाले पाखंडियों और अहंकारी लोगों को सचेत किया

है जो वेदों को पढ़ते हैं और पाखंडवश मंत्र पढ़कर बहुत से जीवों को नष्ट करते हैं, पशु के शिर को काटकर मूर्ति के आगे रख देते हैं। हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या आज हमारा समाज शताब्दियों पूर्व के पाखंड से मुक्त हो सका है? उत्तर बिलकुल साफ है - नहीं। इसलिए, आज कबीर के पदों की प्रासंगिकता है क्योंकि अभी तक संशय की गांठ पाखंडियों के हृदय से नहीं गई है। इन सबों के हृदय में आत्म-भाव नहीं देखा गया है; क्योंकि जीते जी इन्होंने आत्म-परिचय नहीं किया है। अतः जिसने आत्म-परिचय नहीं किया है, उनका वेदादि का का पाठ व्यर्थ है।

मध्यकाल के कवियों ने प्रायः अपनी जाति की खुली घोषणा की है। निम्न समझी जाने वाली जातियों से आने वाले कवियों ने अनेकशः बिना किसी हीन भावना के अपनी जाति का जिक्र किया है। कबीरदास ने कई जगहों पर खुद को जुलाहे की निम्न जाति बताया है - "सर्ग लोक में क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि माँहि।"

जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुं पतीजौ नाँही।।

तहाँ जाहु जहाँ पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीनाँ।

आइ हमारै कहाँ करौगी, हम तौ जाति कमीनाँ।।"¹²

अथवा,

"जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौ उदासी।

आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो, एक माउ एक मासी।।"¹³

अथवा,

"कहत कबीर मोहि भगतिउ माहा,
'कृत करणी जाति भया जुलाहा।।"¹⁴

अथवा,

"जाति जुलाहा क्या करे हिरदै बसै गुपाल।
कबीर रमइया कंठ मिलु चूकहि सब जंजाल॥"¹⁵
कबीर निम्न जुलाहा जाति के होकर भी श्रेष्ठ हैं।
खुद को तुच्छ अथवा जुलाहा अर्थात् सामान्य
व्यक्ति बताना कबीर के उत्तम होने का पता देता
है। जबकि, जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक
मर्यादा न पा सकी थी। जुलाहा लोग अधिकांशतः
कपड़ा बुनते हैं। और यह कपड़ा बुनना भी कोई
नई बात नहीं है, क्योंकि यह प्रथा बहुत पुरानी है।
सतयुग में राजा हरिश्चंद्र से जब विश्वामित्र सब
राजपाट ले लिए तो वे भी साधारण वस्त्र पहन
करके श्मशान की रखवाली करते थे। शैव्या
साड़ी का दुपट्टा फाड़कर अपने मृत पुत्र को
लपेटकर श्मशान ले जाती है। मर्यादा पुरुषोत्तम
राम ने त्रेता युग में वनवास के समय वल्कल
वस्त्र धारण किया था। द्वापर युग में श्री कृष्ण ने
भी वस्त्र धारण किया था। कहने का आशय यह
है कि उस समय भी वस्त्र चलता रहा होगा।
अगर वस्त्र चलता रहा होगा तो उस समय वस्त्र
बुनने वाले जुलाहे रहे हों, ऐसी कोई बात नहीं है।
दरअसल, कबीर जुलाहा जाति के जरिए जाति पर
नहीं, बल्कि कर्म पर बल देते हैं। इसीलिए, कबीर
ने जुलाहों की जाति को कमीनी जाति कहा है।

कबीर कर्म करते हुए जाति-पाँति और
कुलाभिमान के धब्बों को मिटा देना चाहते थे।
उनकी मान्यता थी कि चाहे कोई किसी भी
सामाजिक स्थिति में हो उसे ईश्वर-साधना एवं
भक्ति का पूर्ण अधिकार है। इसीलिए, इन्होंने
सामाजिक दृष्टि से निम्न से निम्नतम व्यक्तियों
के कार्यों का संबंध भक्ति से जोड़ा है। कबीर श्रम
के अद्भुत समर्थक हैं -

"आवध राम सबै करम करिहूँ,

सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ।।टेक॥
कुंभराहवैकरि बासन धरिहूँ, धोबी हवै मल धोऊँ।

चमराहवै करि बासन रंगों, अघौरी जति-पाँति
कुल खोऊँ॥

तेली हवै तन कोल्हूँ करिहौ, पाप पुंनि दोऊ पेरुं॥
पंच बैल जब सूध चलाऊँ, राम जेवरिया जोरुं॥
क्षत्री हवैकरि खड़ग संभालूँ, जोग जुगति दोउ
सांधूँ॥

नउ वाहवैकरि मन कूंमूंडूँ, बाढ़ी हवै कर्म बाढूँ॥
अवधूहवैकरि यह तन धूतौ, बधिकहवै मन मारुं॥
बनिजाराहवै तन कूंबनिजूँ, जुवारीहवै जम जारुं॥
तन करिनवका मन करि खेवट, रसना कर
उंबाझारुं॥

कहि कबीर भवसागर तरिहूँ आप तिरुबष तारुं॥"¹⁶

उपर्युक्त जातियों के कार्यों को हीनदृष्टि से
देखने का यह सकारात्मक विरोध और उनके
कर्म-बल को भक्ति की उच्चता से जोड़कर
गौरवान्वित करना देखते बनता है। जाति-पाँति
का विचार किए बिना कबीर कर्म करते हुए सहज
समाधि लगाने की बात करते हैं, अर्थात् यहाँ कर्म
को भक्ति एवं ज्ञान की साधना में परिणत करते
हुए अपने सहज आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने की
बात कही गई है। कबीरदास का भक्त रूप ही
उनका वास्तविक रूप है। आचार्य हजारी प्रसाद
द्विवेदी ने कबीर के संबंध में एकदम ठीक लिखा
है - "वे मूलतः भक्त थे। भगवान पर उनका
अविचल अखंड विश्वास था।"¹⁷ तभी तो कबीर
तेली के रूप में अपने शरीर को ही कोल्हू बनाकर
तथा अपने पाप-पुण्यों को पेर कर उसमें से भक्ति
का स्नेह निकालने की बात किए हैं। इतना ही
नहीं, वे अपनी पाँचों इंद्रिय-रूपी बैलों को
भगवान के प्रेम की रस्सी से बाँधकर सीधे भक्ति
मार्ग पर चलाने को कहते हैं। कबीर हर तरह के
कार्य करने हेतु तैयार हैं, क्योंकि वे इसी के बल
पर भवसागर पार करने के समर्थक हैं। इस
प्रकार वे भक्ति के जरिए संसार समुद्र से उद्धार

चाहते हैं।

कबीर की कविता जातीयता के विरुद्ध थी, किसी जाति विशेष के विरुद्ध नहीं। कबीर के लिए 'पंडित' और 'मुल्ला' या 'हिंदू' और 'तुरक' में कोई भेद नहीं था।

‘उलटि जात कुल दोऊ बिसारी।

सुन्न सह जिमहि बुनत हमारी॥

हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ॥¹⁸

अथवा

‘पंडित मुल्ला जो लिखि दिया। छाड़ि चले हम कछू न लिया।’¹⁹

अथवा,

‘हिंदू तुरक का करता एकै,

ता गति लखी न जाई॥’²⁰

जातीयता के सवाल पर कबीर का पक्ष विरोध का रहा है। कबीर कर्म पर अधिक बल देते हैं। उनकी कविता जाति-पाँति, कुलाभिमान आदि का निषेध करती है। भक्ति के मार्ग पर जाति-पाँति और कुल के बंधन टूट जाते हैं। वर्तमान युग में जातीयता का जहर विभिन्न सेवाओं, संस्थाओं और कार्यालयों में भी फैला हुआ है। और जो व्यवस्था, जो समाज जाति-भेद के आधार पर चलेगा, ऊँच-नीच का भेदभाव करेगा, उसकी आयु लंबी नहीं होगी। कतई नहीं होगी। हम कह सकते हैं कि कबीर की कविता जातीयता को समूल नष्ट करने का आह्वान है। उनकी कविता जाति की सीमाएँ तोड़ने का संदेश देती है। ताकि आने वाली पीढ़ी को बेहतर कल मिल सके और वह अपनी संतान को ऐसे संस्कार, ऐसी शिक्षा दे जिससे वह स्वयं को महज मनुष्य समझे, न कि ऊँच या नीच।

संदर्भ ग्रंथ :

1. दास, श्यामसुंदर (संपा.), कबीर ग्रंथावली, रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृष्ठ संख्या -229
2. वहीं, पृष्ठ संख्या - 51
3. वहीं, पृष्ठ संख्या - 51
4. वहीं, पृष्ठ संख्या - 45
5. वहीं, पृष्ठ संख्या - 51
6. डॉ. धर्मवीर, 'कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1998, पृष्ठ संख्या -73
7. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, - हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृष्ठ संख्या-93
8. चेतनदास जी, पं. मोतीदास जी (संपा.), कबीर साहब का बीजक ग्रंथ, स्वसंवेद कार्यालय, सीयाबाग, बड़ोदा, दिनांक - 6.4.55, पृष्ठ संख्या - 59
9. वहीं, पृष्ठ संख्या - 60
10. वहीं, पृष्ठ संख्या - 62
11. वहीं, पृष्ठ संख्या - 63
12. दास, श्यामसुंदर (संपा.), 'कबीर ग्रंथावली', रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृष्ठ संख्या -229
13. वहीं, पृष्ठ संख्या - 230
14. वहीं, पृष्ठ संख्या - 230
15. वहीं, पृष्ठ संख्या - 301
16. वहीं, पृष्ठ संख्या - 267
17. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सोलहवीं आवृत्ति : 2010, पृष्ठ संख्या - 172
18. दास, श्यामसुंदर (संपा.), कबीर ग्रंथावली, रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृष्ठ संख्या -320
19. वहीं, पृष्ठ संख्या - 320
20. वहीं, पृष्ठ संख्या - 165

संपर्क : चंदन साव, 36/2, एस. बी. एम. रोड, चांपदानी, जिला- हुगली, पोस्ट ऑफिस - बैद्यबाटी, पुलिस स्टेशन - भद्रेश्वर, पश्चिम बंगाल, पिन- 712222, फोन नं. - 7980306709

दुष्यंत कुमार की कथा-भाषा एवं संवाद - शिल्प

डॉ. कंचना कुमारी

कथा भाषा की अपनी अलग भंगिमा होती है। उसमें जहाँ एक ओर कसावट होती है वहीं दूसरी ओर कथ्य को अपने भीतर अंतर्निहित करने की क्षमता भी। दुष्यंत की कथा-भाषा इन विशेषताओं से युक्त हैं। दुष्यंत कवि है इसलिए वे शब्दों का सम्यक प्रयोग और उनकी अर्थगर्भिता का महत्व जानते हैं। दुष्यंत के कथा-साहित्य का भाषा जीवन भाषा है। वस्तुतः इस भाषा के दो रूप हैं। एक विवरण और वर्णन की भाषा और दूसरी संवाद की भाषा। वर्णन और विवरण की भाषा में कवित्व है तो संवादों की भाषा बोलचाल के अधिक करीब है।

‘छोटे-छोटे सवाल’ दुष्यंत का पहला उपन्यास है और यह विवरण के साथ प्रारंभ होता है। विवरण की भाषा की यह कसावट देखी जा सकती है - “सत्यव्रत ठीक दस बजे उस कमरे में पहुँचा जहाँ इंटरव्यू के लिए और बहुत से उम्मीदवार जमा थे। यद्यपि वह आर्य समाज मंदिर से साढ़े नौ बजे ही चल दिया था, फिर भी मन में थोड़ा चिंतित था। वक्त का सही अनुमान न लग पाने के कारण उसे लगता था कि कहीं पाँच-सात मिनट का विलंब न हो गया हो, किंतु कमरे में पहुँचकर उसे सांत्वना मिली। लोग एक-एक, दो-दो की टुकड़ी में बँटे हुए बातचीत कर रहे थे और ऐसा नहीं लगता था कि इंटरव्यू शुरू हो गए हैं।”

इसके साथ ही संवाद के रूप में भाषा का यह नमूना द्रष्टव्य है : “क्यों साहब, जब तक हमलोगों का इंटरव्यू शुरू हो, तब तक क्यों ने हम एक-दूसरे का परिचय ही हासिल कर लें?” ठाकुर ने बेंच से उठकर दोनों हाथ आगे फैलाते हुए एक्टराना अंदाज में कहा और फिर खुद अपना परिचय देते हुए बोला, “बंदे का नाम है राजेश्वर ठाकुर और असिस्टेंट टीचरी का उम्मीदवार हूँ।”

बात करने का अंदाज और बात का वजन दोनों बराबर उतरे। हिंदू, इंटर कॉलेज, राजपुर के उस कमरे में पंद्रह-बीस बेतरतीबी-सी डेस्कों के पीछे लगी बेचों पर बैठे उम्मीदवारों में जैसे जिंदगी की हलचल दौड़ गई। अब तक खामोश से बैठे प्रतीक्षाग्रस्त उम्मीदवार इस बात के प्रति ज्यादा सतर्क थे कि कहीं डेस्कों की दवात की सूखी स्याही का कोई धब्बा उनके साफ धुले कपड़ों पर न लग जाए। पर अब उन्हें लगा कि वक्त बातचीत करके भी गुजारा जा सकता है।

सत्यव्रत कोने में पड़ी एक बेंच पर बैठ गया। एक सिरे से खड़े होकर

सबने अपना परिचय देना शुरू किया।

“राम स्वरूप पाठक नाम है, के.जी. कॉलेज से हिंदी में सेकेंड डिवीजन में एम.ए. किया है, हल्दौर से आया हूँ।”

“मेरा नाम मुरारी मोहन माथुर है, मैंने भी हिंदी में एम.ए. किया है, मैं झालू का रहने वाला हूँ”²

दुष्यंत ने संवादों की योजना में भाषा की स्वाभाविकता पर विशेष बल दिया है। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजी शब्दों के भी प्रयोग किए हैं। इतना ही नहीं विवरणों की भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने मुहावरों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है - “राजेश्वर ने कहा, “बहुत देखे हैं इस जैसे। एक बार एपाइंटमेंट लेटर मिल जाए, फिर देखना। चूरन बनाकर फाँक जाऊँगा सालो को। हमारी सियासत नहीं देखी अभी...”

और तभी बहुप्रतीक्षित क्लर्क, पवन बाबू लगभग लुढ़कते हुए से कमरे में आए। बातचीत का सिलसिला रुक गया। सब उनकी ओर देखने लगे। खासे मजेदार आदमी थे। लंबाई-चौड़ाई एक-सी थी। गोल-मटोल, छोटा कद। हाथ में एक फेहरिस्त लिए थे, जिसमें उम्मीदवारों के नाम लिखे थे। कमीज और नेकर पहन रखी थी। नाक पर आस्तीन का घिस्सा लगाते हुए पवन बाबू ने नेकर की जेब से लाल-नीली पेंसिल निकाली और उम्मीदवारों की हाजिरी लेनी शुरू की।

- मुरारी मोहन माथुर !

- यस प्लीज।

- रामस्वरूप पाठक !

- यस प्लीज।

फिर पांडे, निगम, गिरीश, हरीश, रोहतगी, वर्मा सबका नंबर आया और सब जो अब तक चुप थे, ‘यस प्लीज’ बोलते हुए। फिर असिस्टेंट टीचर्स की बारी आई।

- सुरेशचंद्र सोत्री !

- यस सर।

- केशव परसाद !

- यस सर।

- असरार अहमद !

- यस प्लीज।

- राजेश्वर ठाकुर !

यस। -ठाकुर ने न ‘सर’ लगाया, न ‘प्लीज’।

हथौड़े जैसा ‘यस’ पवन बाबू के सिर पर दे मारा। पवन बाबू सहसा हाजिरी लेते-लेते और चश्में में से दोनों आँखें उसकी ओर चमकाई, फिर और सबको ऊँगलियों पर गिनते हुए बोले, “सब प्रिजेंट है।”³

दुष्यंत की कथा-भाषा उपनामों और बिंबों से निर्मित हुई है। वातावरण के पूरे रंग को वे पूरी सहजता से चित्रित कर देते हैं - “शाम के साये आकाश से उतरकर धरती की ओर बढ़ते हैं। कॉलेज के पीछे सड़क के साथ-साथ शहर तक फैले मैदानों में देसी सदा-सुहागिन की बाड़ पर फूलों के छोटे-छोटे चिराग जल उठते हैं। फुटबॉल का खेल बंद हो जाता है। शहर के ताँगे खड़-खड़ करते हुए बिजनौर जाने और बिजनौर से आने वाली शटल गाड़ियों पर मुसाफिरों को लाने-पहुँचाने में व्यस्त हो जाते हैं। रेलवे स्टेशन पर आकर खत्म हो जाने वाली शहर की एकमात्र सड़क दिन-भर के वैधव्य के बाद शाम को थोड़ी देर के लिए सुहागिन हो उठती है और इतनी ही देर में जीवन को इंच-इंच कर जीने के आकांक्षी काफी जीवन-रस प्राप्त कर लेते हैं।”

दुष्यंत ने बीच-बीच में वैसे सूत्र वाक्यों को प्रस्तुत किया है, जो सूक्ति की तरह प्रतीत होते हैं। जैसे - “भूख जीवन का कितना ही बड़ा सत्य क्यों न हो, किंतु और सत्यों की भाँति थोड़े समय के लिए भी दबाया और कुचला जा सकता है।”⁵

वातावरण को जीवंत कर देने वाली भाषा की संरचना दुष्यंत की कथा-भाषा की मुख्य विशेषता है। महाविद्यालय में पनपने वाली गुटबाजी को प्रत्यक्ष करने के लिए इससे बेहतर भाषा और क्या हो सकती है -सोमवार को स्टॉफ-कौंसिल की मीटिंग हुई, जिसके खत्म होते ही हेडक्लर्क पवन बाबू ने अपनी कुर्सी मास्टर उत्तमचंद के पास खिसका ली और गोदी में रखे मोटे-मोटे रजिस्ट्रों को उनकी मेज पर रखते हुए बोले, "मैंने आपसे पहले ही कहा था न कि यह राजेश्वर ठाकुर साँप का बच्चा है। इसे कॉलेज में नहीं आना चाहिए। अब, देख लिया आपने।"

"देख तो लेता, मगर अपॉइंटमेंट मेरे हाथ में होता तब ना।" उत्तमचंद, पवन बाबू की बात पर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए झुंझलाएँ, "तुम तो समझते हो...." और उन्हें लगा कि कहीं कोई सुन न रहा हो।

"आपने कोशिश ही नहीं की, वरना मैं जानता हूँ कि लाला हरीचंद्र और सेक्रेटरी गणेशीलाल आपकी बात हरगिज न टालते।" पवन बाबू ने उनकी बात काटकर कहा।

"विश्वास करो पवन, मैंने कहा था। और इन दोनों से ही नहीं, बल्कि वाइस-प्रेसीडेंट चौधरी नत्थूसिंह ने भी कहा था।" फिर एक पल रुककर मास्टर उत्तमचंद लगभग फुसफुसाहट के स्वर में बोले, "जाने इनकी कौन-सी 'एप्रोच' थी कि एक भी मेंबर ने 'अपोजीशन' नहीं किया।"

"इसलिए तो अब आपका 'अपोजीशन' हो रहा है। जय प्रकाश ने बगल में ले रखा है उस ठाकुर को। देखते जाइए, क्या-क्या गुल खिलते हैं?" पवन बाबू ने हर शब्द पर अपनी गरदन दाँ-बाँ हिलाते हुए कहा।

उत्तमचंद को पवन बाबू की चेतवनी पर अविश्वास करने का कोई कारण न दिखा। अभी दस मिनट भी नहीं हुए थे कि राजेश्वर भरी

मीटिंग में विनम्रता से ही सही, मगर ऐसी बातें कह गया जैसी आज तक उन्होंने किसी मास्टर तो क्या, लेक्चरर तक के मुँह से नहीं सुनी थी, अतः मन में क्षुब्ध थे।⁶

उपन्यास में रामलीला प्रसंग की भाषिक संरचना द्रष्टव्य है -

"हुआ करेजवा के पार तीर तोरे नयनों का.....
ऊँची-नीची दुनिया की दीवारें सैंया तोड़के.....

सत्यव्रत को रामलीला और इन गानों में कोई संगति नहीं दिखती, इसीलिए उसने एक दिन लड़कों को डाँटा, फिर समझाया भी। मगर कुछ नतीजा निकले, इससे पहले ही चौधरी नत्थूसिंह ने सब प्रयत्न बेकार कर दिए, "भगवान की लीला देखेंगे तो इन्हें कुछ अच्छी बातें हासिल होंगी। आज्ञाकारी बनेंगे और माता-पिता तथा गुरुओं का आदर करना सीखेंगे। इन्हें रोकना नहीं चाहिए। मैं तो विमला तक को भेजता हूँ।" उन्होंने अपना मत दिया और बात खत्म हो गई।

तभी बराबर के मकान से आवाज आती रहती है। उसने सोचा और उसे कुछ कल का सुना गीत याद हो आया

"तोरे नयनों ने, तोरे नयनों ने चोरी किया

मेरा छोटा-सा जिया परदेसिया।

ओ तोरे नयनों ने..."⁷

दुष्यंत ने सेठों की भाषा को स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। जहाँ उच्चारण और वर्तनी का कोई अर्थ नहीं है - "लाला हरीचंद ने आज सारे अध्यापकों और विद्यार्थियों के सामने भाषण करते हुए कहा था, "आज देश को हस्त-पुष्ट नौजवानों की जरूरत है। कौन कह सके किस भखत पाकिस्तान से लड़ाई छिड़ जावै। कोई मिनट जा रई है। ऐसी दशा में हमने जो कृषि-योजना चलाई थी। मगर आप लोग ये चाहते हैं कि आप लोग हौस्टल में कच्चा-पक्का खाना बना के खावै, ब्रह्मचर्य का

पालन ना करें, तो ये सब हम बर्दाश्त नहीं करेंगे।”⁸

सत्यव्रत और विमला प्रसंग की भाषा कुछ अलग प्रकार की है। वैसे, वह सत्यव्रत की छात्रा है, सामने उसको आप भी कहती है लेकिन जब पत्र लिखती है तब आप तुम में बदल जाता है। प्रेम मनोविज्ञान को दुष्यंत ने भाषा के माध्यम से जीवंत कर दिया है। “सत्यव्रत को यह ‘तुम’ बहुत अखरता है। कुछ भी हो, विमला उसकी शिष्या है। और किसी शिष्य को ऐसी धृष्टता की वह अपने गुरु को ‘तुम’ कहकर संबोधित करें, सत्यव्रत को असह्य है। वैसे सामने वह हमेशा उसे आप कहती है, लेकिन जब लिखती है तो तुम पर आ जाती है और सत्यव्रत डाँटने या समझाने तक को मजबूर हो जाता है। उसने निश्चय किया कि कुछ भी हो, आज शाम को वह जरूर उससे कहेगा, मगर तभी सत्यव्रत को ध्यान आया कि शाम होने में देर ही कहाँ है। चार-साढ़े चार तो बज ही रहे होंगे। और विमला अभी से कपड़े बदलकर बाहर के कमरे में आ बैठी होगी।” और विमला की खामोशी को सत्यव्रत ने अपने भाषण का प्रभाव समझा। अतः उन्हीं सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए बोला, “ये तो चोरी है विमला। ये उसी तरह का अपराध है, जैसे बिना परिश्रम किए अपछत धन पर भोग-विलास करना। सबके सामने विधिपूर्वक त्याग, सम्मान या पारिश्रमिक किसी भी उपलक्ष्य में दिया गया धन जैसे भोग्य होता है, उसी प्रकार विवाह की वेदी पर पवित्र होकर मिली नारी की स्थिति होती है। मैं इसी कारण इन संबंधों को अनैतिक मानता हूँ कि तुम मुझे पत्नी रूप में प्राप्य नहीं हो।”

विमला चुपचाप तख्त से उठ गई। सत्यव्रत ने अंधकार में उसे देखने की और उसकी सिसकियों का अनुमान लगाने की कोशिश की। परंतु, संभवतः विमला की आँखें गीली न थीं, न उसका कंठ अवरुद्ध, वरना, अब तक इन आँसुओं

से झरना फूट पड़ता और सिसकियाँ वातावरण में सुबकने लगतीं। विमला ने चुपचाप आगे बढ़कर कोने से लालटेन उठाई और दरवाजा खोलने को बढ़ी। सत्यव्रत से उसकी यह निष्क्रियता न सही गई तो विमला की मनःस्थिति का सही अनुमान लगाने के लिए उसने कहा, “तुम मुझे समझने का प्रयत्न करना विमला।”

कोठरी की खामोशी में सत्यव्रत के शब्द तुरंत घुल गए। उसकी सांसों की धड़कने भी सुनाई दे रही थीं। विमला ने दरवाजा खोल दिया था। सत्यव्रत की बात सुनकर गरदन पीछे घुमाई और बोली, “मैं तुम्हें खूब समझ गई हूँ। तुम,तुम या तो ढोंगी हो... या नपुंसक।”¹⁰

दुष्यंत की भाषा अपनी अर्थवेत्ता के कारण आकर्षित करती है। उनकी सबसे मुख्य विशेषता है पात्रोनुकूल भाषा का प्रयोग। भाषा के माध्यम से वे पात्रों की मनोवृत्ति को खोलकर रख देते हैं। देशज शब्दों के सटीक प्रयोग के साथ सहचर शब्दों के प्रयोग ने भाषा को निर्विवाद रूप से सौंदर्यानुकूल बना दिया है। राजेश्वर को देखते ही खाला बड़ी आजिजी से बोली, “क्यों भय्या, तू तो अखबार-वखबार पढ़ता होवैगा। जरा यों तो बता कि पाकिस्तान-हिंदुस्तान में लड़ाई शुरू हो गई क्या?”

राजेश्वर खामोश रह गया। कितना अनपेक्षित प्रश्न है।

जय प्रकाश ने उत्तर दिया, “क्या करेगी खाला? पाकिस्तान जावेगी क्या?”

“अरे भय्या। मैं क्यों जाऊँ पाकिस्तान। पाकिस्तान जावै मेरा गुट्टा।” खाला ने तड़पकर कहा, “आग पड़े उत्तौ पै एक अंगल का मुलक बनाकै बैठ गए और हिंदू-मुसलमानों में चक्कू चलवा दिए। मेरा बस चलता तो जलगयों की मुंडी पकड़-पकड़ के कतर लेती।”¹¹

दुष्यंत जब विवरण देते हैं तो उनकी भाषा

अपनी कसावट के कारण पाठकों को बाँधे रहती है। उदाहरणार्थ - "बीसलपुर जिला मुरादाबाद की संभल तहसील का एक बहुत बड़ा गाँव था, जो हमारी जमींदारी में समझा जाता था। वहाँ हमारी बहुत लंबी-चौड़ी काश्त थी और बड़ी अच्छी पैदावार होती थी। हर साल गर्मियों में हम वहाँ जाया करते थे। हमारा मकान, जिसे हम डेरा कहा करते थे, चार-पाँच बीघा जमीन में बना था और दो बराबर-बराबर हिस्सों में बँटा हुआ था। पिछले हिस्से में जनानाखाना था और अगले में बैठक और मवेशीखाना, जिसे हम अब भी घेर कहते हैं। हर साल हमारे जाने पर पिछला हिस्सा अनाज और कपास के ढेर से भर जाता और दो-तीन महीनों में उसे बेचकर या कोठों में भरवाकर हम लोग अपने गाँव राजपुर वापस चले आते थे।

राजपुर हमारा घर था। पुश्तैनी घर। मगर यह बात मेरी समझ में नहीं आती थी कि भाई साहब, अपने घर न रहकर मुरादाबाद क्यों रहते हैं और क्यों माँ या पिताजी जब बीसलपुर जाते हैं तो मुरादाबाद में भाई साहब से मिलने नहीं जाते?

भाई साहब की चर्चा बीसलपुर में भी होती थी, बल्कि यहाँ उनके ज्यादा किस्से सुनने में आते थे। अलबत्ता वहाँ उन्हें बाबू जी नहीं, छोटे सरकार कहा जाता था और शिकार से अधिक उनके शराब और नटनियों के किस्से सुनाई पड़ते थे, जिनमें मेरी कतई दिलचस्पी नहीं थी।

'सारा गाँव ही उनकी रियाया है।' लोग कहा करते थे और मुझे अच्छा लगता था।¹²

दुष्यंत ने भाषा में प्रवाह के लिए हर प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। तत्सम शब्दों के साथ देशज और विदेशज शब्दों का प्रयोग करके भाषा को प्रवाह और अर्थगर्भिता देने की कोशिश की है। विज्ञापन की भाषा की सर्जना में भी

दुष्यंत बेजोड़ है। 'एक अधूरी कविकथा' में वर्णित यह इश्तहारी भाषा देखी जा सकती है -

'पुकार'

प्रगतिशील मासिक पत्रिका

फड़की हुई कविताएँ

भावपूर्ण रोचक कहानियाँ

समाज का भंडाफोड़ करने वाले लेख

और

विचारोत्तेजक संपादकीय

इनके अलावा महिला-मंडल, सिने-समाचार,

फिल्म-जगत, बौरे जी का बही खाता,

आपकी पसंद के गाने आदि अनेक स्थायी स्तंभ।

पुकार - जिसका संपादन हिंदी के प्रख्यात

कथाकार श्री राजकुमार सिंह कर रहे हैं।

आज ही साढ़े चार रुपए भेजकर वार्षिक

ग्राहक बनिए।

व्यवस्थापक 'पुकार'

'पुकार कार्यालय'

गोलागंज, चंदौसी।

इस इश्तहार को फिर एक बार देखकर मन में विचार उठा कि इसमें कुछ कविताएँ छपनी चाहिए। महावीर से भी अपनी राय जाहिर की, - उसने भी इसे पसंद किया और हम दोनों उसी दिन दोपहर को 'पंडित' की दुकान पर 'पुकार' का पहला अंक देखने चल दिए।¹³ कोमल और उग्र भावों के प्रदर्शन के लिए उन्होंने उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। 'हाथी का प्रतिशोध' शीर्षक कहानी का यह अंत देखा जा सकता है - "उस समय मैं बड़े आश्चर्य के साथ सोच रहा था कि क्या हाथी इससे कहकर गया है कि मैं आ रहा हूँ। ठीक उसी समय लीक की तरह से किन्हीं भारी पाँवों की हलकी-सी आहट सुनाई दी और दस-बीस क्षण बाद ही हाथी साफ तौर से नजर आने लगा। उसकी सूँड़ में लकड़ी का एक बड़ा-सा लट्ठा दबा था। बिस्तरों के पास

आकर वह एक क्षण के लिए रुका। उसने मुँह घुमाकर इधर-उधर देखा। फिर तीनों बिस्तरों के ऊपर लट्ठा रखकर उसको अपने पैर से दबाया। फिर एक हल्की-सी चिंघाड़ मारी। लेकिन, ज्योंही उसने सूँढ़ से रजाई उठाकर बिस्तर खाली देखे, तो उसका गुस्सा और भी भड़क उठा। वह तेजी से झोंपड़ी की ओर बढ़ा। एक ही झटके में उसने झोंपड़ी को उखाड़ फेंका। भीतर सूँढ़ डालकर सारा आटा-दाल जमीन पर बिखरे दिया। फिर फूँक मार-मारकर उसके कोनो में दबी आग को भड़का दिया और अब बिखड़े हुए फूस ने आग पकड़ ली तो वह भाग निकला।

बहुत देर बाद जब हम पेड़ से नीचे उतरे तो झोंपड़ी का एक हिस्सा आग से पूरी तरह चल चुका था। बैल जंगल में भाग गए थे और बिस्तर बिखरे पड़े थे।

मैं आज भी उस दृश्य को भूला नहीं हूँ। नौकरों ने मुझे बताया था कि पहली बार हाथी सिर्फ यह देखने के लिए आया था कि हम लोग हैं या नहीं, चूँकि किस्मत से उस वक्त वे जाग रहे थे, इसलिए हमलोग बच गए। पर एक बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई कि आखिर हाथी ने किस बात पर नाराज होकर हमें जान से मार डालने की सोची थी?"

हिंदी-उर्दू के महत्वपूर्ण रचनाकार डॉ. राही मासूम रजा ने अपनी एक नज़्म में भाषा प्रयोग के संदर्भ में कहा था -

"मुझको मालूम न था
कि हर इक लफ्ज को सदियों ने संवारा
होगा
ये जो आए हैं तो कितनों ने पुकारा होगा।
मैं लुटाता रहा इस दौलते-बेयायां को

और अब, जब कि जमाने को बताने के लिए मेरे दिल में कई किस्से हैं, कई बातें हैं देखता हूँ तो मेरे पास कोई लफ्ज नहीं।" दुष्यंत शब्दों के मितव्ययी हैं। यही कारण है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों में वे भटकने से बच गए। उनकी कथा-भाषा अपनी भंगिमाओं से पाठकों को अभिभूत करती है।

संदर्भ :

1. छोटे-छोटे सवाल, दुष्यंत कुमार रचनावली, खण्ड - 3, पृष्ठ : 51
2. उपरिवत, पृष्ठ : 51
3. उपरिवत, पृष्ठ : 58-59
4. उपरिवत, पृष्ठ : 70
5. उपरिवत, पृष्ठ : 71
6. उपरिवत, पृष्ठ : 101-102
7. उपरिवत, पृष्ठ : 139-140
8. उपरिवत, पृष्ठ : 161
9. 'छोटे-छोटे सवाल', दुष्यंत कुमार रचनावली, खण्ड : 3, पृष्ठ : 171
10. उपरिवत, पृष्ठ : 232-233
11. उपरिवत, पृष्ठ : 160
12. "आँगन में एक वृक्ष", दुष्यंत कुमार रचनावली", खण्ड - 3, पृष्ठ : 275
13. दुष्यंत कुमार रचनावली, खण्ड-3, पृष्ठ : 341
14. उपरिवत, पृष्ठ : 45

संपर्क : रा. कृ. श्री रामजानकी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, छपरा मेघ (मठ), मुजफ्फरपुर, बिहार - 842002, मो. : 9470263951

साहित्यकार की सामाजिकता बोधिसत्त्व

किसी भी व्यक्ति के लिए यह प्रश्न सदैव बना रहता है कि उसकी सामाजिकता क्या है? यहाँ निःसंदेह सामाजिकता से तात्पर्य उत्तरदायित्व, जिम्मेदारी या वास्ता से है। जिस समाज में आप रहते हैं, उससे आपका लेन-देन कैसा है, क्या है? आपके हित-अहित को लेकर आप कितने चिंतित या बेचैन रहते हैं। उस समाज की समस्याएँ आपको परेशान करती हैं या नहीं। ये सारे प्रश्न सबके लिए होते हैं, किंतु जब कभी किसी साहित्यकार से यही सवाल किया जाता है तो इसके ध्वन्यार्थ बदल जाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि यह प्रश्न सामाजिकता या जिम्मेदारी का उसी से उठाया जाता है, जिस पर जिम्मेदारी न उठाने या गैर जिम्मेदार होने का संदेह हो।

किसी भी साहित्यकार, कलाकार, रंगकर्मी, संगीतकार, गायक इत्यादि के लिए उसके समाज की समस्याएँ चिंता का विषय होती ही हैं। इन सामाजिक समस्याओं का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, साहित्यकार के लिए वे एक बड़ी चुनौती की तरह होती हैं, जिसे कभी वह दरकिनार करके, कभी संघर्ष द्वारा दुरुस्त करता है। किंतु यहाँ एक भ्रम की स्थिति बनती है कि क्या साहित्यकार सामाजिक सुधार के लिए कार्य करता है या वह मात्र सर्जक होता है और लोग या आलोचक उसकी रचनाओं की सामाजिक संदर्भों में व्याख्या कर लेते हैं? स्थिति जो भी हो, साहित्यकार के समक्ष उसकी सामाजिकता एक प्रश्न की तरह बनी रहती है। इस प्रश्न से क्या प्राचीन, क्या मध्यकाल, क्या आधुनिक युग - सब के साहित्यकारों को दो-चार होना पड़ा है। किंतु अपने तरीके से। यह अपना तरीका क्या है? इसे हम सामाजिक समस्याओं और उसके खिलाफ उठाए गए साहित्यकार के कदमों से भली भाँति समझ सकते हैं।

मध्यकाल के कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी की रचनाओं पर यदि हम एक दृष्टि डालें तो बात समझ में आ सकती है। यह काल सांप्रदायिक उथल-पुथल से भरा था, किंतु प्रत्येक कवि ने इस सांप्रदायिक संघर्ष को अपने तरीके से देखा। तुलसी 'राम-राज्य के मंगल कामना से इस दुख स्वप्न का संहार करते हैं तो जायसी पद्मावत के मानुष प्रेम भयउ वकुठी में इसका समाधान पाते हैं। किंतु कबीर? कबीर सीधे इन संप्रदायों की सामाजिकता पर ही प्रश्न उठाते हैं। वे किसी बहाने संघर्ष नहीं करते, अपितु सांप्रदायिकता के

प्रश्न को सीधे काव्य-वस्तु बनाते हैं। उसे जीवन-दर्शन बनाते हैं। ऐसा नहीं कि सूर या मीरा को एक कवि के रूप में उन समस्याओं का ज्ञान नहीं था। या मध्यकाल के अन्य कवियों को उनके समाज की वस्तुस्थिति का पता नहीं था। यहीं यह प्रश्न भी उठता है कि साहित्यकार किसे काव्य-वस्तु बनाए, किसे नहीं, यह उसकी नितांत निजी सामाजिकता है। व्यक्तिगत जिम्मेदारी है। अर्थात् कोई व्यक्ति लेखक या साहित्यकार के रूप में अपनी सामाजिक भूमिका निभाए, यह व्यक्ति का स्वयं का निर्णय होता है। क्योंकि, जबरन लेखक बनाना किसी भी काल या व्यवस्था में संभव नहीं। और जिस दायित्व का वरण आपने स्वयं लिखा है, उसे निभाने का दायित्व भी आपका ही होगा। कबीर से किसी ने कहा तो नहीं था कि लिखो...। यह कबीर का अपना फैसला था...। क्योंकि, सामाजिक समस्याएँ, साहित्य लिखने या साहित्य में लिखने से दूर नहीं होतीं या नहीं हो सकती हैं। मसलन, सांप्रदायिकता, जातिवाद, बाल-मजदूरी, स्त्री दहन, दहेज, बलात्कार, दंगे, इन सब समस्याओं का हल साहित्य से हो पाना संभव नहीं। इस सब समस्याओं को हिंदी या अन्यान्य भाषाओं के साहित्य में बड़ी तादाद में लिखा गया है, किंतु समस्याएँ जस-की-तस हैं। क्योंकि, साहित्य का काम है प्रश्न उठाना। समाधान का उपाय करना समाज या व्यवस्था की जिम्मेदारी है।

दिक्कत वहाँ आती है, जहाँ साहित्यकार या समाज यह भ्रम पाल लेता है कि लिख देने से सब समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाएंगी। नहीं, यह एक कपोल कल्पना मात्र है। 'गोदान' लिखने से होरी की समस्या हल नहीं होगी, 'महाभारत'

लिखने से पांडवों को उनका अधिकार प्राप्त नहीं होगा, 'रामायण' लिखने से रावण-संहार नहीं होगा, सीता-हरण नहीं थमेगा, इसके लिए उपाय ढूँढने होंगे, समर करना होगा, लंका-दहन करना होगा। कर्म करना होगा। संघर्ष करना होगा। कीर्तन करने, चरितकाव्य लिखने से समस्याएँ नहीं जाने वाली।

तो क्या करें, 'रामायण', 'महाभारत' न लिखें, 'गोदान', 'कंकाल', 'राम दरबारी', 'कामायनी', 'प्रिय प्रवास', 'ऋतुसंहार', 'मेघदूत', 'शिशुपाल बध', 'रामचरितमानस', 'पद्मावत' की रचना व्यर्थ है? नहीं, यही साहित्यकार की सामाजिकता है, समाज के वीभत्स, भीषण प्रसंगों को उसके वास्तव स्वरूप में दर्ज करना। दस्तावेज बनाना।

अंत में मैं साहित्यकार की सामाजिकता से उसके 'समाज-सुधारक' या 'कार्यकर्ता' के पहलू को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यह कतई आवश्यक नहीं है कि कोई साहित्यकार समाज-सुधारक बने ही या वह समाज में व्याप्त तात्कालिक समस्याओं को अपने काव्य-संसार का अंग बनाए। दुर्घटनाओं पर लिखना वैसे भी, एक गैर रचनात्मक लेखन है, यह मैं मानता हूँ।

चलते-चलते हिंदी के लेखक संगठनों से जुड़े लेखकों की सामाजिकता को रेखांकित करना आवश्यक समझता हूँ। यहाँ न लेखक है, न संगठन, सिर्फ लेखकीय ठेके हैं। कागजी खानापूर्ती। निश्चय ही तमाम लेखक-संघों को अपनी सामाजिकता को एक बार फिर से जाँचना-परखना होगा। उससे जुड़े लेखकों को भी। आपको भी। मुझे भी। यही हमारी सामाजिकता है, फिलहाल।

इससे तो अच्छा था!

इस जीवन से अच्छा था!
मैं पैदल गांव जा रहे किसी मजदूर के
नंगे पैरों का जूता हो जाता!

या मैं एक राह भटके यात्री की प्यास का
पानी हो जाता
या एक धू-धू दोपहर में
राख हो रही किसी बच्ची को घर पहुँचाने वाली
बस या बैलगाड़ी हो जाता
उसके घने घुंघराले बालों वाले सिर पर
नन्हीं गोल टोपी हो जाता
एक भूखी स्त्री के
पेट भरने का अन्न हो जाता
उबला हुआ, भुना हुआ या कच्चा अन्न!
या उसके मलिन महावर वाले पैरों के नीचे
हरी दूब हो जाता!

जीवन ऐसे अकारथ जाए एकदम
चूक जाए इस पृथ्वी पर आना
इससे तो अच्छा था
किसी झूठे शासक को बांधने की
बेड़ी हथकड़ी हो जाता!
सड़क पर
एक हुंकार हो जाता।

इससे तो कहीं अच्छा था
मैं किसी सरकार की चिता की
लकड़ी हो जाता!
धधककर
एक हाहाकार हो जाता।

●●●

प्रतीक्षा है!

बहुत सारी रूलाइयां
दूर दूर से आकर घर ले रही हैं
एक एंबुलेंस अभी अनेक सिसकियों को
समेट कर ले जा रहा है!

पूरा लंबा रास्ता द्रवित है, एंबुलेंस के विषाद से
वह स्वयं क्यों जा रहा है रोता हुआ

किसे ले गए लोग?
क्यों ले गए लोग?
कौन लोग हैं जो रोना नहीं भूल पाए
अब तक इस भौतिक संसार में?

खिड़की खोल कर देखता हूं
बेमियादी कैद से
बाहर झांकने की यह एक नई सीमा है।

इस रुदन की कोई एक भाषा नहीं
सारे व्याकरण ध्वस्त हो गए हैं
फिर भी रूलाई का व्याकरण समझने को
क्यों परेशान हूं अभी तक?

दुख और यातना का कारण जान भी लूं
तो भी क्या कर लूंगा
फिर भी
किसे और क्यों ले गए लोग
यह ठीक-ठीक जानने को आतुर
झांकता हूं बार-बार बाहर!

यह मेरी विकलता मेरी विफलता है?
बाहर जाने की टूटी हुई कुंडी है मेरी उदासी?

समय की शिला पर

मेरे भीतर बार-बार कोई कहता है
कि यह उदासी और आँसू का सूत्र है जीवन
जो हर बार मुझे सोते से जगा देता है
कहता हुआ कि समेट लो सामान
बुझा दो स्मृतियों को
मूंद दो पोथियों की आंखें

देख लो उस पौधे को जिसे लगाया पिछले
शुक्ल पक्ष के पखवारे में
कुछ देर में या अगली किसी रात में
तुमको ले जाने आए कोई
एंबलेंस नए रूदन का समन करने!

खिड़की नहीं करता बंद
किताब नहीं रखता अलमारी में
नहीं समेटता सामान
खड़ा रहता हूँ कितनी ही देर
न जाने किस प्रतीक्षा में
एक अनजानी रूलाई से लिपटा घिरा।

●●●

आत्म निर्भरता !

पृथ्वी आत्म निर्भर है और सूर्य भी
यह कहा जा सकता है
लेकिन कोई नहीं है आत्म निर्भर
न चंद्रमा न बादल न समुद्र न तारे
सब टिके हैं एक दूसरे के सहारे!

पृथ्वी और चंद्रमा के बीच की दूरी है उनका संबल
सूर्य देता है चंद्रमा को अपनी चमक अपनी रोशनी
समुद्र से जल लेते हैं बादल
और उसे पृथ्वी को लौटा देते हैं

थोड़े सुख-दुख जोड़ कटौती के साथ!
पृथ्वी को लौटाना भी समुद्र को ही लौटाना होता है
नदियों को लौटाना भी समुद्र को लौटाना होता है।

कपड़े निर्भर हैं धागों पर
धागे रूई कपास पर
कपास खेत पर
खेत सूर्य के ताप मेघ और जल पर
जल समुद्र पर
समुद्र टिका है पृथ्वी की गोद में
पृथ्वी टिकी है सूर्य चंद्र के खिंचाव और दुत्कार पर!

उदाहरण अनेक हो सकते हैं
पराए पर निर्भर होने के
तुम एक आत्म निर्भर का उदाहरण दे सकते हो
क्या?

फेफड़े निर्भर है हवा पर
खून निर्भर है अन्न पर
शरीर निर्भर है पता नहीं कितनी चीजों पर
शब्द निर्भर हैं अक्षरों पर
अक्षर ध्वनियों पर
और ध्वनियां वायु और शून्य के विस्तार पर!

बहुत कुछ निर्भर है तुम्हारे देखने और न देखने पर
बहुत कुछ निर्भर है तुम्हारे सुनने और न सुनने पर
बहुत कुछ निर्भर है तुम्हारे बोलने और चुप रहने पर

तवा निर्भर है आंच पर
वह खुद गर्म नहीं हो सकती इतनी स्वयं से कि
सेक दे एक रोटी खुद के ताप से
बटलोई अन्न नहीं जुटा सकती और
हल खुद नहीं जोत सकते खेत
लोहा निर्भर है

हाथ भट्टी और हथौड़े पर और उस निहाई पर
कि वह हंसिया बने या कुछ और
और इस निर्भरता में भाथी और उसके उस
चमड़े को न भूल जाएं जिस पर निर्भर है यह सब
कुछ गला देने का व्यापार!

और उस पशु को भी नहीं भूलें जिसकी खाल से
बनती है भाथी और उस हाथ और छुरे को भी
नहीं जो उतरता है खाल
और बनाता है भाथी!

वह अकेला पेड़ भी आत्म निर्भर नहीं है
वह जितना पृथ्वी पर निर्भर है
उतना ही पृथ्वी की नमी पर
और उस हवा पर भी जो नहीं दिखती
न तुम्हें न उस पेड़ को!

तुम जो कुछ और जहां तक देख रहे हो या नहीं
भी देख रहे हो सब निर्भरता का खेल है यह
निर्भरता सृष्टि का जल है!

जहां निर्भरता का जल नहीं वहां कोई लोरी नहीं
कोई झिलमिल नहीं
कोई गीत नहीं!

पैदल जाते लोगों के घाव पर निर्भर है यह जनतंत्र
तुम इनसे आत्म निर्भर होकर दिखाओगे क्या?

तुम हजार जन्म लेकर भी आत्म निर्भरता का
कोई एक उदाहरण बताओगे क्या?

●●●

बताओ बताओ!

बहुत थक गया हूं
फेफड़े में बहुत कम बची हैं सांस
देह लोहू का गोदाम हो गया है जैसे
कहां है मेरी आत्मा
वह है भी की नहीं?
सोने जाता हूं
सो भी जाता हूं बहुत गहरे
किंतु नींद नहीं आती
रात दिन मेरी नींद में
बहुत भीतर कोई पैदल चल रहा है लगातार
बुद्ध पूर्णिमा की रात के पहले से
काली चौदस की रात तक लगातार।

मैं उससे कहता हूं रुको
विराम ले लो
दिखाओ अपने पैरों के घाव
वह गहरे घाव वाले पैरों को दिखाता है
लेकिन रुकता नहीं
चलता रहता है
वह कहता है कि
ये घाव आराम करने से नहीं चलने से भरेंगे।

वह कहता है उसके नाना उन्नीस सौ तीस में
विंध्याचल से पैदल आए थे बंबई
वह दो हजार बीस में पैदल जा रहा है मुंबई से
विंध्याचल!

नाना के पास आने के लिए किराया न था
तब अंग्रेजों की सरकार थी
मेरे पास जाने का किराया और साधन नहीं है
यह अपनों का राज्य है।

मैं उसे समझाता हूँ
शिकायत मत करो किसी की
वह कहता है तुम स्कूने को कहोगे तो मैं शिकायत
करूंगा
तुम मेरे पैरों के घाव दिखाने को कहोगे
तो मन के घाव देखने होंगे!

मैं उससे मुंह मोड़ कर सोने चला जाता हूँ
सो जाता हूँ लेकिन नींद नहीं आती है
वह अपने पैरों से धरती को धूल बनाता
आगे बढ़ता जाता है।

आंखों में पड़ती है
उनके पैरों के घाव में धंसी धूल

बहुत आगे जा कर करता है मुझे फोन
कहता है आज किसी ने मेरे घायल पैरों की
फोटो छापी है किसी अखबार में
वह फोटो भेजना चाहता है

वह कहता है उसका दुख दृश्य हो गया है देश में
विपत्ति मनोरंजन कैसे हो गई उसकी?

मैं चुप रह जाता हूँ
वह उखड़ती सांस से कहता है बताओ
मेरे घाव प्रदर्शन की वस्तु क्यों हो गए
मेरे ऊपर तो चवन्नी किसी का बकाया नहीं?

मैं चुप ही रहता हूँ
वह भी चुप रहता है पैदल चलता
फिर कहता है कुछ भावुक हो
सुन रहे हो
अकेले जाने का कोई मलाल नहीं
बस एक बात का दुख है

तुम मेरे साथ क्यों नहीं आए गांव
तुम आते तो
तुमको अच्छा लगता
एक मां अभी कटोरा भर खिचड़ी दे गई है
एक नदी में नहाया
ऐसे जैसे गंगा में हम साथ नहाते थे
न उस नदी का नाम जान पाया
न उस बूढ़ी मां का
खिचड़ी वैसी ही बनी थी जैसा तुम खाते हो
अचार वैसा ही जैसा तुमको पसंद है
तुम आते तो
मेरा अकेला भगाए जाने का दुख कम होता!

दुख यह है कि यह मुसीबत मेरे अकेले के हिस्से आई
बात खत्म करने के पहले समझाता है मुझे
राशन अनाज रख लेना खूब
अपना ध्यान रखना
पीछे वाले कमरे की एसी ठीक करा लेना
बिटिया गर्मी सह नहीं पाती है
मैं पहुंच कर फोन करूंगा!

सात दिन हो गए हैं
उसका फोन बंद है
वह घर नहीं पहुंचा है
बहुत उजली रात का सारा उजाला कम हो गया है
दिन तो वैसे में काले हो गए थे
बहुत पहले ही!

वह पैदल कहां चला गया
उसका गांव विध्याचल के आगे तो नहीं खिसक गया
या वह चलने की धुन में भूल गया हो रास्ता?

इस समय कुछ भी संभव है
यात्रा और यातना का अंत न हो

यह संभव है!
गांव वहीं न रह गया हो यह भी
संभव है!

मैं सोने जाता हूं
वह पैदल चलता जा रहा है मेरे भीतर
इतनी धूल भर गई है
कि मेरी नींद भूल गई है
रास्ता!

कविता लिख कर मुक्त नहीं हो सकता मैं
कविता पढ़ कर तुम भी मुक्त नहीं हो सकते
उत्तर दो उसका
वह अकेले पैदल क्यों गया?
धनंजय कुमार बताओ
मंजुल भारद्वाज तुम भी बोलो
वागीश सारस्वत चुप क्यों हो
आभा भाविनी शैलेश रमन सुरबाला मयंक
तुम में से कोई क्यों नहीं गया उसके साथ?

बोलो बोलो
बताओ बताओ?

...

खिड़कियों की रुलाई!

एक कार कुछ ही देर पहले
घर से थोड़ी दूर आ कर रुकी है
उसकी हेड लाइट जल रही है

कुछ लोग चिल्ला रहे हैं जल्दी करो
जल्दी करो!

लोगों के चिल्लाने से पता चला
किसी को जाना है
को रो ना के इलाज के लिए!

एक रोती हुई महिला
बार-बार पलट कर देखती हुई
धीरे-धीरे
बढ़ रही है उस कार की ओर!

ऐसे जैसे जाना न हो उसे कहीं
कहीं भी!

पीछे शायद उसका बेटा खड़ा है
पति भी है और बिटिया या बहू या
कोई बहन!

उसका रोना दूरी और कार की आवाज के
बीच एकदम सुनाई नहीं दे रहा

बहुत सी रूलायियां शब्द हीन हो गई हैं
वे केवल ध्वनियां बची हैं
केवल सिसकियां!

कुछ लोग उस कार
और उस रोती हुई महिला की तरफ बढ़ते हैं
वे भी रो रहे हैं
बिना शब्द किए

प्रकाशित उनके चेहरे
विषाद और आंसुओं से भरे हैं।

महिला रुकती है
रोती हुई निरंतर देखती है
कुछ दूर पर ठिठक गए लोगों को

कोई नहीं जो साथ आए थोड़ा और पास।

वह लौट नहीं सकती
वह रुक नहीं सकती
उनमें से निकल कर दौड़ता है
युवक लेकिन कार के साथ आए लोग
डपट कर रोक देते हैं उसे

वह चीखता है
जाने नहीं दूंगा, जाने नहीं दूंगा।

महिला उसे हाथ के संकेत से दूर रहने को
कहती
रोती विलापती कंपकपाती बैठती है कार में।

न कोई सामान
न कोई प्रस्थान और
वापसी का निश्चित पता

वह जा रही है
एक अनिश्चय की यात्रा पर

इन कुछ लोगों के आंसुओं में
कोई और आंसू घुलता नहीं अब

इतना छिन्न-भिन्न विलाप
इतने उपेक्षित आंसू
इतनी निष्ठुर विदाई
अचानक चलन में कैसे आ गई?

कार जा रही है
धीरे-धीरे
उतने ही प्रकाश में उतने ही लोग
वैसे ही देखते हैं कार की दिशा में

कार जिधर गई है
उधर भी उजाला है दूर तक
दूर तक शोक प्रति ध्वनित है
दूर तक दुख प्रकाशित है

कितना देर खड़ा रह सकता है आदमी
एक अनिश्चित यात्रा पर निकले स्वजन के लिए
भी?

मैं किस्से पूछ सकता हूं
रोती हुई उस महिला को कैसे चुप कराया जा
सकता है!

उदास लोगों को
ढाढ़स बंधाने के लिए क्या कोई नया शब्द खोज
लिया गया है?
रोते लोगों को चुप कराने के लिए नई भाषा क्या
नियत हुई?

विदा करने का कोई नया सूत्र ईजाद नहीं हुआ
है अब तक
शायद ये विदाइयां अपने को विदाई माने ही नहीं!

सब चले गए
जहां कार खड़ी थी वहां एक उदासी
अदृश्य खड़ी है
जो कार के समूचे आकार से बहुत बड़ी है

छा जाता है एक विचित्र सुन्न
है सुन्न के बीच
अचानक सुनाई पड़ती है
मोहल्ले की
अनेक खुली खिड़कियों के बंद होने की रूलाई!

●●●

बोधिसत्त्व

मूलनाम- अखिलेश कुमार मिश्र

जन्म- 11 दिसंबर 1968 को उत्तर प्रदेश के भदोही जिले के सुरियावाँ थाने के एक गाँव भिखारी रामपुर में जन्म। पितामह पंडित राम नरेश मिश्र वैद्य थे और पिता पंडित हीरा राम मिश्र उत्तर प्रदेश सरकार में अधिकारी थे। मां, राम सवांरी देवी धर्मपरायण महिला हैं। पत्नी श्रीमती आभा बोधिसत्त्व सुपरिचित कवयित्री और लेखिका हैं।

शिक्षा- प्रारंभिक शिक्षा गाँव भिखारी रामपुर की ही पाठशाला से। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी में एम. ए. और वहीं से तार सप्तक के कवियों के काव्य सिद्धांत पर डिप्लोमा की उपाधि ली। यूजीसी के रिसर्च फ़ैलो रहे।

प्रकाशन- सिर्फ कवि नहीं (1991), हम जो नदियों का संगम हैं (2000), दुख तंत्र (2004), खत्म नहीं होती बात (2010) ये चार कविता संग्रह प्रकाशित हैं। लंबी कहानी वृषोत्सर्ग (2005), तारसप्तक कवियों के काव्य सिद्धांत (शोध प्रबंध) (2016)

संपादन- गुरवै नमः (2002), भारत में अपहरण का इतिहास (2005) रचना समय के शमशेर जन्म शती विशेषांक का संपादन (2010)।

प्रकाशनाधीन- कविता का सत्संग (लेख, समीक्षा और व्याख्या) अब जान गया हूँ तो (पांचवाँ कविता संग्रह), महाभारत के अर्ध सत्य (महाभारत का तीन भागों में अध्ययन)

अन्य लेखन- शिखर (2005), धर्म (2006) जैसी फिल्मों और दर्जनों टीवी धारावाहिकों का लेखन। जिनमें आम्रपाली (2001), 1857 क्रांति (2002), महारथी कर्ण (2003), रेत (2005) कहानी हमारे महाभारत की (2008), देवों के देव महादेव (2011-14), जोधा अकबर (2013-15) चंद्र नंदिनी (2017) जैसे बड़े धारावाहिकों के शोध कर्ता और सलाहकार रहे। इन दिनों रामायण पर बन रही एक फिल्म के मुख्य सलाहकार और शोधकर्ता हैं। साथ ही अनेक ओटीटी प्लेटफॉर्म के पौराणिक धारावाहिकों के मुख्य शोधकर्ता और सलाहकार हैं।

सम्मान- कविता के लिए भारत भूषण अग्रवाल सम्मान (1999), गिरिजा कुमार माथुर सम्मान (2001), संस्कृति सम्मान (2001), हेमंत स्मृति सम्मान (2002), फिराक गोरखपुरी सम्मान (2013) और शमशेर सम्मान (2014) प्राप्त है जिसे वापस कर दिया।

अन्य- कुछ कविताएँ देशी विदेशी भाषाओं में अनूदित हैं। कुछ कविताएँ मास्को विश्वविद्यालय के स्नातक के पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाती हैं। दो कविताएँ गोवा विश्वविद्यालय के स्नातक पाठ्यक्रम में शामिल थीं।

फिलहाल- पिछले 19 साल से मुंबई में बसेरा है। सिनेमा, टेलीविजन और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखाई का काम।

संपर्क : श्री गणेश को.हा.सो., स्वातंत्र्य वीर सावरकर मार्ग, सेक्टर नं. 3, प्लॉट नं. 233, फ्लैट नं. 3, चारकोप, कांदीवली (पश्चिम) मुंबई- 400067, मोबाइल -9820212573

ईमेल पता- abodham@gmail.com, ब्लॉग का पता- <http://vinay-patrika.blogspot.com/>

जाने क्यों !

पूरी रात
रोता रहा
आसमान
स्क-स्क कर
जाने क्यों !
धरती की नींद
टूट-टूट जाती थी
वह वर्षा को
कोसती चली जाती थी
सुबह उसने पाया
कि गीला हो गया है
उसका दुपट्टा
ओस लटके थे
पत्तियों पर
जैसे आँखों से
टपकने को हों आंसू
आंगन भी धोया-धोया
लग रहा था जाने क्यों!

विश्वास

वह गोली है
बेकार
गले में कायम
खराश
विज्ञापन में मगर
पास
बीमार आदमी
बैठा है सिर थामे
उदास
किस दवा पर करे
विश्वास।

मुखे नेई रे हाँसी !

मौसम में उमस की पैठ
मन में उदासी!
और बाकी खबरें
वही बासी
मुखे नेई रे हाँसी !

मगर चलने की शर्त पर

जिंदगी से क्या शिकायत
उससे प्यार करो
एक नहीं, सौ-सौ बार करो
फिर मिले, ना मिले
क्या पता
किसको पता?
जिंदगी पे
एतबार करो
राहें खुलती हैं
बाहें पसारे मिलती हैं
सौगातें
मगर चलने की शर्त पर।

कविता

सोई संवेदना को जगाते शब्द
न्याय के पक्ष में खड़ी भाषा
विवेक को दुरुस्त करता व्याकरण
कोरस में शामिल पदबंध
अंधेरे के खिलाफ जलता दीपक
पुष्पक विमान नहीं
न इंद्र का आसन!

रात को भी सहने होते हैं आघात!

रात आती है तो आती है
बाहें लहराती
पर सब कहां समा पाते
उसकी आगोश में
मशीनों को अपना काम
करते जाना होता है जाग-जाग
उधर पहरदार भी जगाता रहता है
बगैर सोए,- जागते रहो-
उल्लुओं की तरह चोर-डकैतों को भी
कहाँ रिझा पाती है रात
देह-गंध के मारे बेचारों पर भी
कहाँ चल पाती है मर्जी निशा की
कुछ सदाचारी तो गिनते रहते नोट
जाग कर चोरी-चोरी तहखानों में
कुछ दिलजले करवटें ही बदलते
रह जाते हैं सारी रात
रात को मालूम है
वे जो छली गई प्रेम में
हो गई जिनकी बेमेल शादी
सुबकती रहती हैं सारी रात
शहर गए बेटे की भी जब आ जाती है याद
निर्मोही को करती है मां जाग-जाग
रात को भी सहने होते हैं कई-कई आघात
हालाँकि, वह देती ही जाती है आमंत्रण-
आ जाओ, आ भी जाओ
थपकी दिए देती हूँ-सो जाओ!

●●●

संपर्क : द्वारा, आरती श्रीवास्तव, जीवनदीप अपार्टमेंट, तीसरी मंजिल, 36, सबुज पल्ली, देशप्रियनगर, बेलघरिया, कोलकाता-700056, मो-9903146990

खरी बात सबको लगती है**क्या अब भी कुछ कहना भाई.....**

अंधों के? आगे? क्या? रोना।
काहे अपना, दीदा? खोना?

पैर में छाले, फटी बिवाई।
अब भी कुछ कहना है भाई।

बेमतलब बेकार की मेहनत।
ऊसर में है बीया बोना।

भूखे प्यासे पैदल चलते।
औरत बच्चे बूढ़ी माई।

साठ बरस के युवा कवि हैं।
अस्सी पार, प्रौढ़? है होना।

मुंबई हो या दिल्ली, सूरत।
तौर ठिकाना नहीं कमाई।

आलु अचना की खुली दुकानें।
गली गली, हर अतरा कोना।

ऐसी हालत कभी हुई ना।
विपदा ऐसी कभी न आई।

चाहत है तो ले लो तुम भी।
एक स्पइया में, इक दोना।

जिस पर किया भरोसा हमने।
फेर लिया उसने मुँह भाई।

इतरा लो, जितना जी चाहे।
मुश्किल बहुत नामवर होना।

जांगर अपना थका नहीं है।
अभी हौसला बाकी भाई।

कविता-कविता खेल रहे सब।
कविता जैसे खेल खिलौना।

आर पार की जंग लड़ेंगे।
हंसिया और हथौड़ा भाई।

घुटने तक ना, पहुंच सकेगा।
बौना चाहे, नेहरू होना।

कलमकार हम साथ खड़े हैं।
आप अकेले नहीं हैं भाई।

खरी बात सबको लगती है।
'धीर' खफा ना हम पर होना।

धीर आज तक सहा बहुत कुछ।
अब ना और सहेंगे भाई।

संपर्क : 283, मुदियाली रोड, गार्डनरीच, कोलकाता - 700024

गीत - 1

चलो चलें अब अपने गाँव ।
 गीली माटी नंगे पाँव ॥
 मेला दूर बहुत होगा ।
 दर्द प्रसव किसने भोगा ।
 बैठ ढूँढ़कर ठंडी छाँव ॥
 सोच जहाँ गाथी गम्मत ।
 टूटी नहीं कभी हिम्मत ।
 लगते रहे घाव पर घाव ॥
 हल्का है मन उड़ता है ।
 खींचें तो ही मुड़ता है ।
 संध्या बाँध रही है नाव ॥
 खोलें फिर पोथी पन्ने ।
 भूतकाल के पल गिनने ।
 अभी जान लें सबका भाव ॥
 कलरव कंचन भोर हुआ ।
 इंद्रधनुष बन मोर हुआ ।
 कौन रंक सब मन के राव ॥

गीत - 2

कैसा ये तारों का पहरा ॥
 आँगन में अँधियारा ठहरा ॥
 पुष्प सुगंधित टूट रहे,
 कुचल रही नन्हीं कलियाँ ।
 खंजर वाले घूम रहे ,
 सूनी है बस्ती गलियाँ ।
 कुछ किरनें उधार माँगी ।
 सूरज निकला गुंगा बहरा ॥
 आँगन में अँधियारा ठहरा ॥
 दुर्गम पथ ऊँचे पर्वत ,

सुबह सुहानी भूल गए ।
 पुरवाई भयभीत छिपी ,
 गान भियाने भूल गए ।
 एक चाँद ने कोशिश की ,
 घाव लगा उसको भी गहरा ॥
 आँगन में अँधियारा ठहरा ॥
 लेकिन, आश्वस्त अभी भी ,
 आशा के सच्चे प्रहरी ।
 टिड्डी दल से अँधियारे ,
 सदा नहीं अंबर देहरी ।
 तनिक देर रुक जाना तुम ,
 सुख के माथे होगा सेहरा ॥
 आँगन में अँधियारा ठहरा ॥

गीत - 3

लिए उदासी नयनों में,
 मौसम बतियाता है ॥
 किसने लिख दी पीड़ा ,
 उर लहरों के अधरों पर ।
 शब्द हो चुके मौन ,
 असर क्या होगा बहरों पर
 दुखों से तो जनम-जनम का
 अपना नाता है ॥
 दो रोटी है मुश्किल ,
 आकर भादों तंज कसे ।
 जैसे इस धरती को ही ,
 अब सूरज ग्रहण ग्रसे ।
 मुसीबतों को भी काला दिन
 कितना भाता है ॥

श्याम सुंदर तिवारी

छूटे ठौर ठिकाने अपने ,
 मटके फूटे हैं ।
 गली-गली के हुए मुसाफिर ,
 देवा रूठे हैं ।
 खड़ा द्वार पर अंधा भी ,
 केदारा गाता है ॥
 ये दिन बदलेंगे,
 नयनों में सपना पलता है ।
 मन के भीतर एक दीप ,
 हर पल ही जलता है ।
 आशा का मन के दीपों से,
 गहरा नाता है ॥

गीत - 4

ये जीवन सपनों का घर है ॥
 कभी उड़ा ऊँचा अंबर में,
 वसुधा पर गिरने का डर है ॥
 पाकर इस जीवन को हमने,
 भुला दिया है पथ जाने का ।
 वह तो शाश्वत सदा रहा है,
 पक्का एक लक्ष्य पाने का ।
 नहीं बो सके जो बोना था,
 ऊसर रही धरा उर्वर है ॥
 इन खुशियों में मत खो जाना,
 कुछ सुबीज, रहते बो जाना ।
 जीवन एक गीत ही तो है,
 समझ समय पर इसको गाना ।
 आना जाना दुख और सुख,
 महायात्रा का मंजर है ॥

●●●

खो गई चीजें

वे कुछ आम-सी चीजें थीं
जो मेरी स्मृति में से
खो गई थीं
वे विस्मृति की झाड़ियों में
बचपन के गिल्ली-डंडे की
खोई गिल्ली-सी पड़ी हुई थीं
वे पुरानी एल्बम में दबे
दाग-धब्बों से भरे कुछ
श्वेत-श्याम चित्रों-सी दबी हुई थीं
वे पेड़ों की ऊँची शाखाओं में
फड़फड़ाती फट गईं
पतंगों-सी अटकी हुई थीं
वे कहानी सुनते-सुनते सो गए
बच्चों की नींद में
अधूरे सपनों-सी खड़ी हुई थीं
कभी-कभी जीवन की अंधी दौड़ में
हम उनसे यहाँ-वहाँ टकरा जाते थे
तब हम अपनी स्मृति के
किसी खाली कोने को
फिर से भरा हुआ पाते थे ...
खो गई चीजें
वास्तव में कभी नहीं खोती हैं
दरअसल, वे उसी समय
कहीं और मौजूद होती हैं

स्वप्न

वह एक स्वप्न था
मेरी नींद में
आना ही चाहता था कि
टूट गई मेरी नींद
कहाँ गया होगा वह स्वप्न –
भटक रहा होगा कहीं
या पा ली होगी उसने
किसी और की नींद में ठौर
डर इस बात का है कि
यदि किसी की भी नींद में

ठिकाना न मिला उसे तो
कहीं निराश होकर
आत्म-हत्या न कर ले
आज की रात एक स्वप्न

वे जो वगैरह थे

वे जो वगैरह थे
वे बाढ़ में बह जाते थे
वे भुखमरी का शिकार हो जाते थे
वे शीत-लहरी की भेंट चढ़ जाते थे
वे दंगों में मार दिए जाते थे
वे जो वगैरह थे
वे ही खेतों में फसल उगाते थे
वे ही शहरों में भवन बनाते थे
वे ही सारे उपकरण बनाते थे
वे ही क्रांति का बिगुल बजाते थे
दूसरी ओर
पद और नाम वाले
सरकार और कारोबार चलाते थे
उन्हें भ्रम था कि वे ही संसार चलाते थे
किंतु वे जो वगैरह थे
उन्हीं में से
क्रांतिकारी उभर कर आते थे
वे जो वगैरह थे
वे ही जन-कवियों की
कविताओं में अमर हो जाते थे

जब तक

जब तक स्थिति पर
काबू पाने
पुलिस आती है
जल चुके होते हैं
दर्जनों घर आगजनी में
जब तक
फ्लैग-मार्च के लिए
सेना आती है
मारे जा चुके होते हैं
दर्जनों लोग दंगों में

सुशांत सुप्रिय

जब तक शांति-वार्ता की
पहल की जाती है
आ चुकी होती है
एक बड़ी दरार मनो में
जब तक
सुरज दोबारा उगता है
अंधेरा लील चुका होता है
इंसानियत को ...

यहीं रहूँगा मैं

जाकर भी
यहीं रहूँगा मैं
किसी-न-किसी रूप में
किसी प्रिय की स्मृति में
बसा रहूँगा जीवन भर
अपना बनकर
किसी पुस्तक के पन्नों में
पड़ा रहूँगा बरसों तक
हाशिए की टिप्पणी बनकर
किसी पेड़ के तने में
अमिट रहूँगा
दिल का निशान बनकर
किसी कपड़े की तहों में
बचा रहूँगा सुरक्षित
एक परिचित गंध बनकर
या हो सकता है
बन जाऊँ मैं –
किसी थके मजदूर
की आँखों में
गहरी नींद
किसी मासूम बच्ची
के होठों पर
एक निश्छल मुस्कान ...
कहा न
जा कर भी
यहीं रहूँगा मैं

●●●

संपर्क : A-5001, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014, (उ. प्र.),
मो. : 8512070086, ई-मेल : sushant1968@gmail.com

कोरोना वायरस और मनुष्य

अदृश्य वायरस ने
जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय को नहीं
मनुष्य को निशाना बनाया
देश की सीमाओं को न माना
रंगभेद, लिंगभेद न किया
मनुष्य को मनुष्य माना।
मृत्यु के आकस्मिक भय ने
मनुष्य को मास्क पहनाया
मनुष्य घर में बंदी हुआ
एक-दूसरे से दूरी बनाया
मनुष्य ने मनुष्य के लिए
फिर भी की मंगल-प्रार्थना।
न प्रकृति ने भेद किया
न वायरस ने भेद माना
वहाँ अमेज़ॉन जलाया गया
ऑक्सीजन की मात्रा घटी
इधर वायरस ने सीधे
फेफड़े पर हमला बोला
उधर ऑक्सीजन देने वाले
दरख्तों की जान गई
इधर ऑक्सीजन पर जीने वाले
इंसान की जान गई
महज संयोग तो नहीं
अमेज़ॉन-ऑक्सीजन-वायरस
और मौत का संबंध!
फास्ट-फुड और भोग ही
जीवन का पर्याय बना जब
त्याग का पाठ पढ़ाया
अदृश्य वायरस ने तब

आत्मनिर्भरता है
अपना कर्म स्वयं करने में
शांति है, आनंद है
सादी जीवन-शैली में।
नहीं जाना हमें शुक्र ग्रह में
नेपचुन-प्लूटो में भी नहीं
पृथ्वी हमें बहुत प्यारी है
मंगल-बुध से ज्यादा कहीं

विज्ञान स्वस्थ-जीवन के लिए हो
निरोग मानवता हो उद्देश्य
अपनी धरती जब नासाज हो
उसे माकूल बनाना तब हो लक्ष्य

हरियाली कहाँ मिलेगी

मन खराब है
थोड़ी-सी हरियाली चाहिए
हरियाली कहाँ बिकती है?
कितने रूपये? किलो या सेर में?
क्या शॉपिंग-मॉल में मिलेगी?
ऑनलाइन डेलीवरी में?
शहर में चारों ओर
बहुमंजिला इमारतें हैं
स्वीमिंग पुल; चौड़े-लंबे रास्ते
फ्लाइओवर, बेशकीमती कार
करीने से सजाए बगीचे
और भद्र-लोग
लेकिन, मुट्ठी भर हरियाली
कहीं नहीं!
शहर के बाहर एक बस्ती है
जहाँ पसीने की गंध है

डॉ. सारदा बैनर्जी

मैले चिथड़े हैं, नाली की दुर्गंध है
स्वादिष्ट भोजन की सुगंध नहीं आती
पर चहकने की आवाज आती है
महकते खुशनुमा चेहरे दिख जाते हैं
जी-तोड़ मेहनत के बाद भी!
क्या वहाँ मिलेगी हरियाली?
मुट्ठी भर!

कालसर्प दोष

मजदूरों का कालसर्प दोष नहीं होता
न होती है साढ़ेसाती, ढैया
ना ही वे तमाम दोष जिससे दशा
खराब और अच्छी होती है
मेहनत उनका जीवन है
और जीना उनका संघर्ष...
पसीने का स्वाद और गंध
मजदूर जानते हैं
ग्रहों की दृष्टि का फल नहीं जानते
मेहनत का फल जानते हैं
कम में संतुष्टि जानते हैं
जोड़ों के दर्द और टूटते बदन में भी
हार मानना नहीं जानते
मजदूर अलसुबह उठकर
सूर्य-नमस्कार नहीं करते
सूरज का ताप दिनभर झेलते हैं
तपती सड़क पर नंगे पैर चलते हैं
सूरज का प्रभाव ज्यादा समझते हैं।

●●●

संपर्क : डॉ. सारदा बैनर्जी, अध्यापन, जयपुरिया कॉलेज, कोलकाता,
ई-मेल- saradabanerjee4@gmail.com, मो. : 9038794738/ 9836269814

कविता-लोक और मेरी कविताओं की दुनिया तथा दुनियादारी दिविक रमेश

मैं समझता हूँ कि अपनी कविता के सृजन से कठिन अपनी कविता के बहाने खुद की कविता पर लिखना होता है। कम से कम मेरे संदर्भ में तो यह लगभग सच ही है। बावजूद इसके कि प्रयोगवाद और नई कविता ही नहीं, बल्कि छायावाद से जुड़े तमाम कवियों ने कमोबेश अपनी और अपने समय की मुख्यधारा की कविताओं के पक्ष में स्वतः या विवश होकर लिखा ही है। मुझे कविता में कहना ही सरल-सहज लगा है। या फिर औरों की कविताओं पर कहते हुए भी कविता पर कहा गया है, लेकिन वह अधिक केंद्रित औरों की कविता पर ही होता है। साथ के कुछ ईर्ष्यालुओं और गुटबंदियों (जो हर रंग में उपलब्ध हैं) के मारों और ठकुर सुहातियों के लोभियों को छोड़ दिया जाए तो मेरी कविताओं पर बहुतों ने लिखा है, जिनके प्रति मैं पूरे दिल से कृतज्ञ हूँ। वे क्षमा के योग्य हैं, जिन्होंने ईर्ष्या आदि नकारात्मक चाहतों के कारण मुझे और मेरी कविताओं को न विशेषांकों में आने दिया और न ही कविताओं की पुस्तक - शृंखलाओं में। चर्चाओं से मेरी कविताओं को गायब रखने के पूरे हथकंडे अपनाते रहे। कुछ सफल भी रहे हों, लेकिन, मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि न मेरे पाठकों की कमी है और न मेरी कविता के प्रशंसकों की और न ही उन पर लिखने वालों की। हाँ, मैं आत्ममुग्धता का शिकार होने से सजग होकर बचते रहने की कोशिश करता रहा हूँ।

कविता की रचना भले ही मेरे लिए प्रायः एकांत जगह की मांग करती रही हो, लेकिन मैंने कभी नहीं चाहा है कि मेरी कविताएं कभी भी अकेले, कुंठित आदि उदास भावों से ग्रसित हों। मैं समझता हूँ कि कविता की ताकत जहाँ उसका निजपन होता है वहीं उसकी दुनिया सार्वजनिक और समाज-सम्बद्ध होती है। कविता की साधना एकांत में होकर समाज या कहूँ कि शेष से जुड़ी होने के कारण ही सार्थक हुआ करती है। अकेला होने, अकेले कर दिए जाने और अकेले पड़ जाने में अंतर होता है - अर्थ से ज्यादा, संकल्पनागत। हर अकेला स्मानियत का मारा नहीं होता। कविता का अपना आसमान होता है, लेकिन वह आसमान से आती नहीं है। जब वह अकेली होती दिखती या प्रतीत होती है, तब भी बहुत कुछ उसके साथ होता है और इसी कारण वह ताकतवर होती है। उसकी ताकत को सामान्य जन भले ही तत्काल रूप में न समझ पाए, लेकिन जिसके पास ताकत या सत्ता होती है वह जन समझता है। यही कारण है कि समय-समय पर रचनाओं का विरोध भी होता है, रचनाकारों को जेल भी होती है और रचनाएं प्रतिबंधित भी की जाती हैं।

निश्चित रूप से जो कविता है, वह ताकतवर होती है। जो कविता है उसके पास दृष्टि होती है, तभी न वह खुद भी दृष्टि सम्पन्न होती है और उसका रचानाकार भी दृष्टि सम्पन्न होता है। मेरे लिए, अंततः कविता एक संवेदनात्मक समझ होती है। एक समूहजन्य निजता होती है। उम्मीद का एक ऐसा वृक्ष होती है जिस पर, जिसमें और जिसके तले न जाने कितनों का ही सुखद बसेरा होता है। कविता का स्वभाव ही फलीभूत होना और करना होता है। मैंने बार-बार अपनी ओर देखा है और पाया है कि रचनाकार होना बहुत ही कीमती होता है। उसके पास आखिर क्या नहीं था?

कविता की कोई सीमा नहीं होती। उसका न कोई भूगोल होता है और न ही वह किसी भी

मनुष्य निर्मित विभाजक रेखा को मानती है। बल्कि, मनुष्य और पृथ्वी के संदर्भ में वह किसी भी विभाजक रेखा का अतिक्रमण ही करती है। उसका न प्यार बंटा होता है और न ही उसकी मार। इसका कारण है उसकी विशिष्ट सृजन अथवा रचना प्रक्रिया। रचना प्रक्रिया (निर्माण प्रक्रिया नहीं) ही एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें मनुष्य, मनुष्यता के सर्वश्रेष्ठ रूप को जी रहा होता है। रचना प्रक्रिया के बाहर, वही रचनाकार फिर से साधारण मनुष्य हो सकता है, मनुष्यता की तमाम विभाजक रेखाओं का शिकार। अतः स्वयं उसके लिए भी अपनी ही रचना एक आदर्श और चुनौती हो जाया करती है। कविता पर मुझे बहुत भरोसा है। और यह बात भी मेरी कविता में, शायद बेहतर ढंग से व्यक्त हुई है।

बीन लेना चाहिए उम्मीदों को

कोनों-दरारों में बची-खुची दूब-सी उम्मीदों को
बीन लेना चाहिए,
सम्भल-सम्भल कर, समय रहते जल कर राख होने से पहले।
चुन लेना चाहिए सड़कों पर छपे नंगे पांवों की उंगलियों से
पगड़ंडियों की हाँफती धूल से
रेल की पटरियों में पड़े पत्थरों से, बसों की बेरहम सीटों से
साइकिलों और रेहड़ियों के थके-टूटे पहियों से
और हर उस धौंस जमाती जगह से
जहाँ-जहाँ वह पड़ी है सुबकती-सी
भागते, हताश मजदूरों-सी,
मृगतृष्णाओं से भरी उनकी आँखों-सी।
चुन लेना चाहिए तमाम तिनके उम्मीदों के
खोज-खोज कर
छूटे पड़े हों चाहें कहीं भी -
हो चाहें सड़ांध मारते गटरों में, शिविरों में या मरुस्थली पड़ावों में।
चुन लेना चाहिए
चाहे कितना भी क्यों ना हो काम
अनचाहे मेहमान-सा।
ये उम्मीदें ही हैं
भले ही अभी, बची-खुची, सूखी-बुझी
जो फिर फूटेंगी,
होंगी हरी।
हिसाब
ये ही करेंगी
समय की क्रूरताओं का।
रख लेना चाहिए उम्मीदों को सहेज कर, छिपा कर।

जी, बदतमीज नहीं हूँ मैं

जी, बदतमीज नहीं हूँ मैं
पर नहीं खड़ा हो सकता
उस भीड़ के पक्ष में
जो मार डालती है इंसान को
पशु से भी ज्यादा पशु बनकर
जी, बदतमीज नहीं हूँ मैं
मगर नहीं कर सकता तरफदारी
ऐसे संचालकों की
जो हर हाल
वही चाहते हैं उगलवाना
जो चाहता है तंत्र उन्हें जकड़कर।
बाज नहीं आते
ठोकने से कील तक होंठों में।
जी, नहीं हूँ मैं बदतमीज
लेकिन नहीं बन सकता पैरवीकार
बहुमत के उन समझौता परस्त
झुके हुए लोगों का
जिन्हें नहीं लगता डर
अपनी आत्मा को ही रखने से
गिरवी।
जी, नहीं हूँ मैं बदतमीज
पर नहीं देख सकता मैं
वर्जना में उठी उंगलियां
हत्याओं की,
अब जिनसे डर नहीं लगता।
जी, नहीं हूँ मैं बदतमीज
पर मुझे जन-जन तक पहुंचानी
है वह पोथी
जिसमें बाती है खुद जन की
आत्मा
बावजूद इस डरावने सच के
कि कर दी गई थी हत्या
उसके लेखक की मिसाल सी
कुछ डरी हुई क्रूर सत्ताओं ने।
जी, यकीन कीजिए

बदतमीज नहीं हूँ मैं।
मैं बहुत प्यार करता हूँ अपने
देश को।
देश के एक-एक जन को।

जरूमी नाक

आज जब खिड़की के बाहर
झांका
देखा, कितना बड़ा हो गया है वृक्ष!
धरती ने भर दिया है रंग हरा
खिड़ गया हो जैसे
हरा ही हरा, हर जगह।
लगा
हरी हो गई है खिड़की के भीतर
की दुनिया भी।
खिड़की ही रहा होता एक दूसरे
के लिए आदमी
कितनी संभावनाएं रही होती
होने की हरा।
पर जब न रह गए हों झरोखें,
सूक्ष्म छेद तक
आदमी की दीवारों में,
तब कौन रोक सकता था
जख्मी होने से
आदमी की नाक को।

मिल जाने दो

मत लगाओं पहरे मेरे द्वार पर
आने दो इन्हें
आती है जैसे हवा
अपने हर रूप में।
मुझे मत डराओ इनके गुस्से से
नहीं होना चाहता वंचित
मैं इनके लाड से।
इन्हें आने दो
रोको मत द्वार।

याद है मुझे
कभी मैं भी झांका करता था
द्वार से भीतर
इन्हीं की तरह।
मिल जाने दो
कुलबुलाती नदी को
सागर से।

जहाँ मैं रहूँ

बहुत से मकानों में से एक
यह मेरा घर है।
भड़भड़ाते दिन से टकरा-टकरा
कर हर शाम
इसी में आ सिमटता हूँ मैं।
जिस दिन न लौट सकूँ
समझ लिया जाए
घर मेरा नहीं रहा।
तब चाहो तो
उखाड़ फेंक देना, मेरे नाम की
पट्टी को
आँधियों की नौक से।
मैं नहीं चाहता
मेरे अपने, मेरे दोस्त-यार
करें प्रतीक्षा मेरे होने की
ईंट-गारा के
साँचे के आसपास।
मैंने नहीं चाहा कि जीऊँ कभी
बुत बन कर
धरती के सीने पर बोझ बन कर।

सुराख

कोई सुराख जरूर है घर में।
मायावी राक्षस उसी में से आया
होगा रेंगकर।
सबूत है
हमारा भूलना अपना कद,

होते चले जाना छोटे, बहुत छोटे।
किटाणु बनकर
खुद अपनी ही दीवारें
करना खोखली ।
घर हिलता है
हँसता है मायावी राक्षस ।
छत डगमगाती है
हँसता है मायावी राक्षस ।
नजर नहीं आता मायावी
राक्षस
बस हम ही दिखते हैं
नौचते अपना घर ।
जितना मजबूत और सुंदर
होता है घर

उतना ही किरकिराता है
मायावी राक्षस के दाँतों में।
एक सुराख भर काफी होता है
घर में काबिज होने को
मायावी राक्षस के लिए।

नदी एक प्रतिरोध

(एक)

तुम कहाँ बँधी हो नदी!
किनारे ठगे रह गए हैं
जब-जब चाहा तुमने
ढूँढ़ लेना और और किनारे।
तुम जल हो जब तक
कहाँ बँधी हो नदी!

हमी देखते हैं तुम्हें बँधा ।
(दो)
मैंने देखा है
किनारे घुलता हुआ शोर ।
तो भी
कैसे हो तुम शांत नदी,
साँवले नाच और लोकधुन-सी
इतनी सरल!
मुझे भी बाँधों, जैसे बँधा है जल ।
दे दो मुझे भी प्रवाह,
एक लक्ष्य,
एक प्रतिरोध ।

●●●

परिचय : दिविक रमेश, हिंदी के सुप्रतिष्ठित वरिष्ठ कवि, बाल साहित्यकार, अनुवादक तथा चिंतक हैं। इनका जन्म: 6 फरवरी, 1946 (वास्तविक : 28 अगस्त, 1946) ,गाँव किराड़ी (दिल्ली), (वास्तविक नाम: रमेश चंद शर्मा) है।

प्रमुख कृतियाँ: कविता संग्रह : वहाँ पानी नहीं है, माँ गाँव में है, गेहूँ घर आया है, खुली आँखों में आकाश, रास्ते के बीच, छोटा-सा हस्तक्षेप, हल्दी-चावल व अन्य कविताएँ, बाँचो लिखो इबारात, वह भी आदमी तो होता है, फूल तब भी खिला होता। काव्य-नाटक : खंड-खंड अग्नि। आलोचना-शोध : नए कवियों के काव्य-शिल्प सिद्धांत, संवाद भी विवाद भी, कविता के बीच से, साक्षात त्रिलोचन, समझा-परखा, हिंदी बाल-साहित्य : कुछ पड़ाव, पढ़ते-समझते, बाल साहित्य, **Some Aspects of Korean and Indian Literature.**

संस्मरण : यादें महकी जब बाल-साहित्य : लगभग 45 पुस्तकें - (कविता) : जोकर मुझे बना दो जी, 101 बाल कविताएँ, समझदार हाथी समझदार चीटी, बंदर मामा, छुट्कल मुट्कल कविताएं, मैं हूँ दोस्त तुम्हारी कविता आदि, (कहानी) : मेरे मन की बाल कहानियाँ, लू लू की सनक, अपने भीतर झाँको, बचपन की शरारत (संपूर्ण गद्य रचनाएं) आदि, (बाल-नाटक) : बल्लू हाथी का बालघर, मुसीबत की हार आदि, (संस्मरण) : फूल भी और फल भी आदि, अनुवाद : कोरियाई कविता-यात्रा, सुनो अफ्रीका, खलनायक (कोरियाई उपन्यास), कोरियाई बाल-कविताएं, और पेड़ गूंगे हो गए, कोरियाई लोक कथाएं, जादुई बाँसुरी और अन्य कोरियाई कथाएं आदि।

संपादन : निषेध के बाद, हिंदी कहानी का समकालीन परिवेश, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, आंसांबल, दिशाबोध, दूसरा दिविक।

2011 में दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय के प्राचार्य-पद से सेवामुक्त। पूर्व अतिथि आचार्य, हांगुंग यूनिवर्सिटी ऑफ फोरन स्टेडीज़, सोल, दक्षिण कोरिया।

संपर्क : एल-1202, ग्रेड अजनारा हेरिटेज, सेक्टर-74, नोएडा-201304

फोन: 91-120-4168219 , 9910177099, ई-मेल : divikramesh34@gmail.com

लॉकडाउन सिद्धेश

विद्याचरण प्रकृति के प्रेमी थे। विद्या में भी उनको महारत हासिल थी। कुछ मुँह लगे साथियों ने अपनी सुविधा के लिए उनका नाम चरणदास रख दिया था। बड़े-बड़े फ्लैटों की नगरी में अपने लिए ऐसी जगह की खोज की थी, जहां पड़े-पौधे लगे हों। आखिर, सौभाग्य से एक पार्क से संलग्न मकान मिल ही गया। इस पार्क में रंग-बिरंगे फूलों के पौधे तो थे ही। एक साबूत घना और विशाल गुलमोहर का पेड़ भी था।

चरणदास जब-तब अपने पार्क से संलग्न बरामदे में आ बैठते और पौधों को निहारा करते। पौधों और पेड़ों पर धमाल चौकड़ी करते पंक्षियों की आवाज भी सुनते। पंक्षियों का चहचहाना किसी संगीत से कम नहीं लगता। एक दिन सुबह-सुबह दो पंक्षियों के चहचहाने से उनकी नींद टूटी, तो सीधे उठकर बरामदे में आ गए। नजदीक के एक पेड़ के डाली पर बैठे ये जोड़े ऐसे चहचहा रहे थे, जैसे कि इन पर कोई आफत आ गई हो। उन्होंने देखा कि घोंसले से निकलकर एक सद्यः जात बच्चा एक डाली पर आ बैठा है, जो न उड़ सकता है और न दोबारा घोंसले में जा सकता है। उसकी रखवाली में ये जाड़े जोर-जोर से चहचहा रहे थे। कहीं दूसरे पंछी उसका नुकसान न कर दें।

पार्क खाली पड़ा था। कई दिनों से लोग घरों से निकल नहीं रहे थे। देश भर में लॉकडाउन की घोषणा थी। लोग डर के मारे घरों में ही बंद थे।

उन्होंने अंदाजा लगाया, घोषणा के दस दिन गुजर चुके हैं। सामने रास्ते का कोना वैसे ही वीरान था। नुककड़ पर का मकान तोड़कर ढाह दिया गया था। प्रोमोटर ने जमीन अपने कब्जे में ले ली थी, लेकिन लॉकडाउन उठने तक तो कोई नया फ्लैट बन नहीं सकता। उन्हें लगा कि लॉकडाउन समाप्त होने तक ये पंछी के दोनों बच्चे बड़े हो जाएंगे। एक बच्चा अभी भी घोंसले में अटका पड़ा था।

इस बीच मोहल्ले में कई लोग कोरोना के चपेट में आ गए थे और एक की मृत्यु हो गई थी। इसीलिए, कई दिनों से लोगों ने पार्क में आना छोड़ दिया था। सामने सड़क पर भी गिने-चुने हुए लोग ही दिखाई पड़ते थे। आस-पास की दुकानें बंद थी। उनकी दिनचर्या में भी फर्क आ गया था। सुबह अलसाये हुए देर से उठते और सीधे मुँह-हाथ धोकर बरामदे में आ बैठते किसी काम में मन नहीं लगता तो बैठे-बैठे उन्हीं फूल-पत्तियों को देखते रहते।

सामने वाले मकान का सुमन रोज की तरह जोर-जोर से खांसता रहता।

वह बेफिक्र मोहल्ले में डोलता फिरता, जैसे कि कुछ नहीं हुआ है। उसे केवल अपने दो बुलडोजर जैसे कुत्तों की फिक्र रहती। जब वह जोर-जोर से खांसता तो कुत्ते भी उसकी नकल में भूंकते और अपने मालिक की अगवानी में पूँछ हिलाते रहते। सुमन को न पार्क से कोई मतलब था, न पेड़-पौधों से।

विद्याचरण की उम्र हुई थी और वे नहीं चाहते थे कि किसी पचड़े में पड़ें। अतः चुपचाप बैठकर इनका अवलोकन करने और शाम होने के बाद दूरदर्शन पर आई खबरों को देखने के अलावा कोई काम नहीं था। स्मार्टफोन के फेसबुक से उनको चिढ़ थी। नाहक दहशत फैलाते रहते हैं। झूठ-सच का कोई परहेज नहीं रहता।

पत्नी को बुलाकर पंछी के उस बच्चों को दिखाते हुए कहा, - देखो, कहीं वह नन्हा बच्चा नीचे गिर न जाए, तो चलो, उसे उतार लाए या फिर उसी घोंसले में रख आए।

सुझाव अच्छा था। मगर निकलें कैसे? घर से निकलने की मनाही है। कहीं किसी की नजर पड़ गई तो आफत आ जाएगी। फिर भी सुझाव पर चरणदास प्रफुल्लित तो हुए, मगर लाचार थे। मन मारकर बैठे रहे। तभी एक दूसरे पंछी ने आकर झपट्टा मारा और उस बच्चे को उठा ले गया। वे हताश होकर भीतर आ गए। हारारत महसूस कर रहे थे।

उन्हें ऐसी उम्मीद नहीं थी। वे इस हादसे से इतने परेशान हुए कि उन्होंने कई दिनों तक पार्क की तरफ वाले बरामदे में जाना छोड़ दिया। कमरे में ही पड़े रहते। पार्क खाली पड़ा था। पता नहीं चला कि आखिर उस नन्हें पंछी का क्या

हुआ। वे बीमार पड़ गए।

देखते-देखते लॉकडाउन की अवधि समाप्त हो रही थी, विद्याचरण उर्फ चरणदास ने सोचा, इस बार वे पार्क में जाकर घोंसले में पड़े दूसरे नन्हें पंछी को देख आएंगे। हो सकता है, वह भी उड़ने लायक बड़ा हो गया हो।

आज का दिन बड़ा भरोसे का था। सारी दुकानें खुल गई थीं। लोग सड़कों पर आ जा रहे थे। पार्क में आकर कुछ बच्चे खेल रहे थे। देश को जो नुकसान होना था, वह तो हो ही गया, मगर उम्मीद के मुताबिक बहुत सारे लोग मौत के गिरफ्त से छूटकर आ गए थे।

वे पंछी जो बहुत दिन से गायब थे, पार्क में एक डाली पर आकर चुपचाप बैठे, घोंसले की तरफ ताक रहे थे। तभी एक जुड़वा पंछी उड़कर उनकी बगल वाली डाल पर आकर बैठ गया।

चरणदास को समझने में देर नहीं लगा कि ये दो जुड़वा पंछी कौन थे, जब वे आपस में चोंच से चोंच लड़ाकर आदर और प्यार में आकर गुटर गुं करने लगे तब समझ में आया कि ये उनके ही वंशज हैं। चरणदास जाकर बरामदे में तबतक बैठे रहे, जब तक वे पंछी डार पर बैठे रहे। बच्चे पार्क से जा चुके थे।

पत्नी ने भीतर से आवाज दी थी, कब तक बैठे रहोगे? कड़ी धूप निकल आई है, भीतर आओ, नहीं तो फिर से बीमार पड़ जाओगे।

उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया चुपके से भीतर आ गए।

दोपहर को मोहल्ले में पुलिस की गाड़ी आई थी, वह सुमन को उठाकर ले गई, वह जो बेफिक्र होकर घूमा करता था।

पीछे खड़ी कौन... मनजीत...सुनेत्रा या दमयंती...! रंजना अरगडे

हम लोग हमेशा की तरह थियेटर पर कुछ जल्दी ही पहुँच गए थे। एक तो घर दूर है, फिर बैठने के लिए अनुकूल जगह भी तो ढूँढ़नी पड़ती है। सौ तरह की समस्याएं होती हैं। आगे इसलिए नहीं बैठ सकते कि वे सीटें तथाकथित विशिष्ट लोगों के लिए आरक्षित होती हैं। आप बैठें हों और कोई आपको उठा दे, तब तो घर जाने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता है। यह अलग बात है, कि अवसर कार्यक्रम समाप्त होने तक कोई वी.आई.पी. आते ही नहीं हैं। पर मुझे हमेशा लगता है कि आगे की सीट पर ससम्मान बैठें, तब तो ठीक है वरना अपने तो पीछे ही भले। पर पीछे बैठें तो दिखता नहीं है। बीच में बैठें तो किसी का सिर आड़े आता है। बिलकुल पीछे बैठें तो माथे पर लगा वातानुकूलन जुकाम कर देता है। कुल मिला कर यह कि बहुत पीछे की नहीं और किनारे वाली सीट पकड़नी होती है। और ध्यान यह भी रखना होता है कि कुछ देर यूँ ही जायजा लेने थियेटर के बाहर निकले तो कहीं कोई और उस पर बैठ न जाए। थिएटर खुलने की घंटी बजने से बहुत पहले बाहर एक लंबी लाइन लग जाती है। उनमें से अधिकांश युवा और स्वस्थ उम्र दराज रसिक थियेटर दीर्घा में सीढ़ियों पर बैठकर नाटक देखने का लुत्फ उठाना चाहते हैं। तरह-तरह के लोग होते हैं। अपने में डूबे और अपने से नितांत बाहर, अन्यमनस्क से भी। उन्हें सीढ़ियों की प्राईम लोकेशन की तलाश होती है। थियेटर का असली आनंद उठाने की सही जगह वही तो होती है। पर मेरे जैसे लोग, जिनके घुटनों या कमर में दर्द रहता है, उन्हें तो कुर्सी पर ही बैठना होता है। कोई विकल्प भी तो नहीं है। हम लोग पिछली पीढ़ी के थियेटर-वॉचर्स जो ठहरे। अब इस नए शहर में आकर बसे हैं और इस नए थियेटर का मजा ले रहे हैं। एक अलग ही मजा है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि नौकरी वाली पिछली जिंदगी जैसे पिछला जनम हो गई थी, मैंने नए सिरे से अपना जीवन शुरू किया था। पिछला सब कुछ छूट गया था लगभग विस्मृत हो गया था मानो।

थियेटर दीर्घा दर्शकों से भर गई थी। आज पटना के किसी ग्रुप की प्रस्तुति थी। इन लोगों के नाटक हमेशा नुक्कड़ नाटक की स्टाइल के होते हैं। सामाजिक मुद्दों को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में रखते हैं। हमें बहुत उत्साह तो नहीं था। पर इस शहर में रहें और नाटक न देखें ऐसा तो हो नहीं सकता। और फिर इस शहर को हमने चुना भी तो इसलिए था कि यहाँ का रंगमंच बहुत सक्रिय है। 'जलती रहे मशाल' नाम का नाटक खेला जाने वाला था। ब्रोशर दरवाजे पर से ही ले लिया था। नाटक की थीम और निर्देशक के विषय में जानकारी थी,

सो पढ़ ली थी। नाटक के दृश्यों की कुछ तस्वीरें भी थीं। जाड़े के दिन थे और ठंड भी लग रही थी। मैंने अपना शॉल थोड़ा कसकर लपेट लिया था। राकेश को ठंड कम ही लगती थी। आधे स्वेटर से काम चल जाता था। हाँ, जाड़ों में टोपी नहीं भूलते थे।

तीसरी घंटी बज उठी। दर्शकशाला में अँधेरा हो गया। नाटक तथा टीम के बारे में जानकारी दी जाने लगी। मंच पर अँधेरा था। नाटक को भरने के लिए संगीत बजने लगा। विंग में से एक पात्र मंच पर आता है। एक सफेद लबादा जैसा पहन रखा है। कमर तक लटके खुले बाल। माथे पर एक बहुरंगी बैंड जैसा बाँधा हुआ था। पात्र बंद आँखों से ही मंच पर उपस्थित होता है। आते ही उसने एक लंबी साँलीलौकी सुनाई जिसका आखिरी वाक्य था-

देखना जरूरी है। आँखें बंद हों या खुली कोई फर्क नहीं पड़ता।

यह कहने के बाद उसने अपनी आँखें एकदम से खोलीं और एक नजर पूरी दर्शकशाला पर घुमाई। फिर वह मशाल ले कर जैसे किसी को खोज रही हो इस तरह मंच से नीचे दर्शक दीर्घा में उतर आई। कहीं रुककर कुछ देर देखती, मशाल दर्शक के पास तक ले जाती, इनकार में सिर हिलाती और आगे चली जाती। वह हमारी रो तक आई। वह मशाल हमारे पास तक ले आई। मुझे देखा और मैं चौंक उठी। उसकी आँखें नाटक से बाहर जाकर कुछ हतप्रभ - सी हुईं, ऐसा मुझे लगा। वह जल्दी से आगे बढ़ी फिर मुड़कर मंच की ओर चली गई।

मैंने, राकेश से कहा - तुमने देखा वह परिचित -सी नहीं लगी तुम्हें। मैंने अँधेरे में ही ब्रोशर में उसका नाम टटोलने की कोशिश की। राकेश ने कहा, क्या कर रही हो। नाटक देखो।

हाँ हाँ कहते हुए मैंने अपना ध्यान मंच की ओर लगाने की कोशिश की।

मंच पर नाटक शुरू हो गया था। पर मेरे भीतर तो कोई दूसरी ही कथा खुल रही थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि मनजीत यहाँ कैसे। यह मनजीत ही है। हो न हो मनजीत ही है। अगर उसकी आँखें नाटक के तिलिस्म के बाहर नहीं आती तो मैं समझती शायद मुझे धोखा हुआ है। और मनजीत ने भी मुझे पहचान लिया था। पर मनजीत यहाँ कैसे? पटना के ग्रुप में? उसने वडोदरा कब छोड़ा? और वह नाटक कब से करने लगी? क्या वह पहले नाटक करती थी? मुझसे तो उसने कभी कहा नहीं। जब वह मुझसे मिली थी तब, पर फिर लगा कि किसी की भी सारी बातें आपको पता ही हों, यह जरूरी तो नहीं है। मैं नाटक के बाद उससे मिलना चाहती थी और बहुत कुछ पूछना चाहती थी। किसी के भी बारे में आपको उतना ही पता होता है जितना आपके साथ के दृश्य में उसका रोल होता है। रोल पूरा होते ही आप दृश्य से बाहर हो जाते हैं। पर मुझे असल में खुशी भी हुई कि वह थियेटर में शामिल हो गई है। इसका अर्थ यह हुआ कि अब वह संभल गई होगी। नाटक ने उसे उस गार से निकाला होगा, निश्चय ही।

विश्वविद्यालय में वार्षिक उत्सव की स्पर्धाएं चल रही थीं। मेरी ड्यूटी वाद विवाद और कविता पाठ में लगी हुई थी। यूनिवर्सिटी के एक सभागार में मैं ड्यूटी पर तैनात थी। उतने में हमारी कैटीन का मैनेजर मुझे ढूँढता हुआ आया और कहने लगा- मैडम जल्दी चलिए। गड़बड़ हो गई है।

मैंने पूछा- क्या हुआ?

उसने फुसफुसाते हुए कहा पहले आप बाहर आइए।

मैंने पास खड़े शर्माजी से कहा- 'देखिए

लगता है, कुछ इमरजेंसी आ गई है। मुझे जाना होगा। अगर कोई पूछे तो आप जरा संभाल लीजिए। मैं बस अभी थोड़ी देर में आती हूँ।' शर्माजी को कौतूहल हुआ। उन्होंने एक सरसरी उत्सुक नजर से मामला भाँपने की कोशिश करते हुए सभागार से बाहर झांकने की कोशिश की। मैं कैटीन मैनेजर भूरा के साथ भीड़ में से रास्ता बनाती हुई बाहर निकली। सभागार से बाहर आते ही मैंने कहा- क्या बात है भूरा भाई। आखिर क्या हुआ?

उसने कहा मैडम आप कैटीन में चलिए। तमाशा हो गया है।

पर मैं कहाँ कैटीन कमिटी में हूँ। उसमें तो प्रो. पटेल हैं। आप उनको बुलाइए।

अरे मैडम, वह तो पहले से ही वहाँ पर हैं। उन्होंने ही मुझे आपको बुलाने के लिए भेजा है।

मुझे बड़ी हैरानी हुई। इस विश्वविद्यालय में मेरी किसी को ऐसी क्या जरूरत पड़ गई। मेरे भीतर की उत्सुकता चरम पर आ गई थी। मैंने पूछा- पर हुआ क्या?

उसने कहा- अरे क्या बताऊँ मैडम, एक लड़की तमाशा कर रही है।

मुझे आश्चर्य हुआ। लड़की तमाशा कर रही है तो हॉस्टल वॉर्डन को बुलाओ या फिर डब्लूडी सी की प्रो. मीरा को बुलाओ। मेरा क्या काम है।

अरे मैं कुछ नहीं जानता मैडम। आप तो चलिए। मुझे पटेल साहब ने आपको बुलाने भेजा है। कितना दूँदा आपको। आपके डिपार्टमेंट में गया, फिर यूनिवर्सिटी ऑफिस में गया, लाइब्रेरी गया, तब जाकर यहाँ पहुँचा हूँ। शाम हो रही है कैटीन बंद करने का समय हो रहा है। आप तो चलो। अच्छा फँसा मैं आज तो। बड़बड़ाता हुआ भूरा आगे और मैं पीछे चल रही थी।

कैटीन सभागार से ज्यादा दूर नहीं थी। पर अपने वजन के साथ चलने में मुझे देर लगती थी। और आधी अधूरी जानकारी के साथ कहीं भी पहुँचने की प्रक्रिया बड़ी कष्टकर होती है। रास्ते में जो परिचित मिलते हैरानी से मुझे देखते। मुझे विश्वास था कि उन्हें ऐसा ही लगता होगा कि एक रोलर सड़क पर लुढ़कता हुआ तेजी से जा रहा है। मुझे इस तरह अपने को देखा जाना पसंद नहीं था। पर भूरा को इससे क्या। वह तो अपनी कैटीन में हो रहे तमाशे की अ-कल्पना से लगभग दौड़ता हुआ जा रहा था। मैं उसके साथ गति नहीं मिला सकती थी। मैंने कहा- भूरा भाई, तुम अपनी स्पीड से चलो। मैं अपनी गति से आ रही हूँ। उसने माफी माँगते हुए स्वर में कहा- मैडम माफ करना पर मैं मजबूर हूँ। बात ही कुछ ऐसी है।

पर तुम बात तो बता नहीं रहे। मुझे कैसे पता चले।

अरे मैडम क्या बताऊँ, बस अब आ गए हैं। मिनट भर का रास्ता रह गया। भूरा आगे, मैं पीछे।

कैटीन पहुँचने तक तो मेरी साँस चढ़ गई थी। मैंने भूरा से कहा पहले अंदर जाकर मेरे लिए पानी भेजना।

कैटीन के बाहर लड़कों का झुंड खड़ा था। हालांकि, बहुत ज्यादा बड़ा नहीं था। मुझे कोई विद्यार्थी नेता भी नहीं दिखा। होता भी कैसे। सभी नेता वार्षिक उत्सव के कार्यक्रमों में व्यस्त थे। लड़कियाँ कम ही थीं। एक तो शाम हो गई थी। और लड़कियाँ यूँ भी देर तक रुकती नहीं थी। बस जो अपने दोस्तों के साथ थीं, वहीं दो-चार। मैंने असमंजस भरी उत्सुकता के साथ कैटीन में प्रवेश किया। दरवाजे पर ही प्रो. पटेल खड़े थे। मैंने प्रश्न भरी आँखों से उन्हें देखा।

मुझे देखते ही कहा- अरे मैडम आपका ही इंतजार था। जरा इधर आइए।

कहकर उन्होंने मुझे एक ओर ले जाकर कहा, मैडम गड़बड़ हो गई है। अंदर जो लड़की है वह आपसे मिलना चाहती है।

मुझसे? पर बात क्या हुई? कौन है वह? कहती है कि आपकी स्टूडेंट है। सुनेत्रा नाम है उसका।

सुनेत्रा- मैंने याद करने की कोशिश की। किस बैच की होगी। अब पटेल साहब तो इसका कोई जवाब नहीं दे सकते थे। वैसे मैंने उनसे पूछा भी नहीं था। मैं बुदबुदाते हुए सोच रही थी। अध्यापक लोग प्रायः बैच के वर्ष के हिसाब से विद्यार्थी याद रखते थे या फिर किसी एक विद्यार्थी के आधार पर बैच याद रखते थे। जैसे नादिम की बैच या गीता की बैच या 92 वाली बैच जिसमें सेंगर भी था। अब यहाँ तो बड़ी परीक्षा की घड़ी है। एक तो सुनेत्रा नाम याद नहीं आ रहा था, न बैच का वर्ष और न ही कोई विद्यार्थी। मैंने सोचा चेहरा देख कर याद आ जाएगा।

कैंटीन के बीचोबीच एक टेबल-कुर्सी पर सुनेत्रा बैठी थी। उसके हाथ में एक कैडबरी चॉकलेट था जिसे वह लगभग अपने दाँतों से रगड़ते हुए खा रही थी। मुझे देखते ही वह बोली- आप बड़ी व्यस्त हैं, अब जाकर आप आई। विद्यार्थियों की कोई फिकर नहीं।

मैं उसे देखकर चौंकी थी।

तुम यहाँ क्या कर रही हो। उसने एक गहरी मुस्कान से मुझे देखा मानो कह रही हो कि छूटने की अच्छी कोशिश की तुमने, पर आखिर पकड़ ही लिया। हो सकता है वह ऐसा कुछ भी नहीं कहना चाहती थी। पर मुझे न जाने क्यों ऐसा ही लगा, क्योंकि आज सुबह यूनिवर्सिटी खुलते ही वह मेरे चैंबर में आई थी।

आज का मेरा दिन बहुत व्यस्त होने वाला था और कई काम निपटाने थे सो मैं घर से आधा घंटा जल्दी आ गई थी। अपने चैंबर में बैठी थी इतने में यह अंदर आई थी। बड़े प्यार से मेरे हाल-चाल पूछे थे। पर अचानक बोली कि आपको क्या यहाँ आवाजें नहीं सुनाई देती। मैंने चौंक कर उसे देखा।

नहीं तो

कितनी आवाजें और शोर सुनाई दे रहा है। आप कुछ करती क्यों नहीं।

मैंने बात टालते हुए पूछा। और क्या चल रहा है। कहाँ हो तुम आजकल। मैंने उसे याद करने की कोशिश में पूछा था।

आपने मुझे पहचाना नहीं मैडम।

शायद, मैंने कहा-

मैं आरती के साथ बैठती थी।

मुझे आरती भी याद नहीं थी।

पर अचानक मुझे उसकी आँखें याद आ गईं जो बेंच पर बैठे विद्यार्थियों के गैप्स में से सीधे मुझे देखती थी। मैंने कुछ तो याद से पर लगभग अंदाजे से कहा- तुम पीछे बैठती थी। और आरती तुम्हें ढक देती थी।

हाँ, मुझे आपसे बड़ा डर लगता था। मुझे क्या सभी को लगता था।

तो अब नहीं लगता? कब एम ए कर लिया तुमने?

दो साल पहले तो किया।

अच्छा, यानी कि सुनीता की बैच वाली हो।

शायद उसे अच्छा नहीं लगा।

वह मेरे कमरे की छत और दीवारों को संशय से देखती हुई फिर बोल उठी- मैडम, कोई सफाई नहीं करता यहाँ। कितनी गंदी दीवारें हैं। कितने जाले हैं। लाइए झाड़ू, मैं कर देती हूँ।

कुछ चौंकते हुए मैंने अपनी फाईलों को समेटते-खोलते कहा- यह यूनिवर्सिटी है भाई। घर नहीं।

पर अब मुझे धीरे-धीरे कुछ-कुछ अंदेशा होने लगा था। विद्यार्थी इस तरह से तो प्रायः कहते नहीं हैं। जरूर कुछ गड़बड़ है। मैंने फिर पूछा।

कैसे आना हुआ।

मैडम अपनी स्कॉलरशिप के पैसे लेने आई थी। पर अभी तक ऑफिस में कोई आया ही नहीं है। फिर सहसा बोली- मैडम आपकी पढ़ाई हुई बातें बहुत याद आती हैं। सो मैंने तय किया था आपसे जरूर मिलूंगी।

मुझे अच्छा लगा।

पर मैडम शोर बहुत हो रहा है। आप कुछ करती क्यों नहीं।

अब मैं कुछ चिंता में पड़ी।

क्या तुम अकेली आई हो।

घर से तो पड़ोस में रहती एक लड़की के साथ निकली थी। मुझे वरना अकेले आने थोड़ी देते। पर अभी अकेली हूँ।

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। इतना तो मुझे लगने लगा था कि इसकी कोई मानसिक समस्या है। पर बहुत याद करने पर भी मुझे याद नहीं आया कि मैंने उसके साथ कभी कोई विशेष बातचीत की हो। वह उन विद्यार्थियों में से नहीं थी जो अध्यापकों से बात करने का हर अवसर ढूँढ़ लेते थे और निकटता बनाते थे। वह उन विद्यार्थियों में से भी नहीं थी जो अपने विशेष गुण या दुर्गुण के कारण अध्यापकों का ध्यान खींच ले जाते थे। वह उन विद्यार्थियों में से भी नहीं थी जो किसी की पहचान के कारण अपनी पहचान बनाते थे। वह तो उन विद्यार्थियों में से थी जो लगभग अलक्ष्य रहकर

अपने को शामिल रखते थे। मुझे इस बात का बेहद अपराध बोध भी हो रहा था कि वह इतने वर्षों बाद आई है तो केवल इसलिए कि वह मुझ पर भरोसा करती थी और मेरे प्रति बेहद सम्मान भाव रखती थी। और मैं हूँ कि उसे ठीक-ठीक निश्चित रूप से पहचान नहीं पा रही हूँ। बल्कि उसे लोकेट नहीं कर पा रही हूँ। उसे, जो खुद अंदर-बाहर से डिसलोकेट हो चुकी थी।

प्रो. पटेल ने विस्तार से किस्सा बताया। कैसे अचानक वह कैटीन में अजीबो-गरीब हरकतें करने लगी। इन दिनों विश्वविद्यालय में वार्षिक कार्यक्रम चल रहे हैं सो अधिकांश लड़के कार्यक्रमों के स्थानों पर जाकर अपनी आँखें ठंडी कर रहे हैं। कैटीन में तो वही बच्चे इन दिनों आते जो चाय या सस्ते में नाश्ता करना चाहते। अंजान लड़कों की टेबुल पर जाकर अजीब नजरों से देखना और अजीब बातें करना, कभी अपनी ड्रेस फैलाकर फिरकी लेना। पहले तो लड़कों को हैरानी हुई फिर कुछ मजा भी आया लेकिन जैसे ही उसने एक लड़के को टुड्डी से पकड़ा और कहा- समझता क्या है तू। बच जाएगा. तो एक हड़कंप-सा मच गया। कैटीन का मैनेजर नदारद था। उसे बुलाया गया। प्रो. पटेल विद्यार्थियों के वेलफेर को देखते थे। उन्हें बुलाया गया। लड़कियों ने हस्तक्षेप करने की कोशिश की, पर वह उनकी ओर हिंसक हो लपकी। फिर एक जगह चुपचाप जाकर बैठ गई। जैसे कुर्सी से चिपक गई हो। उठने का नाम ही नहीं ले रही थी। विमेन सिक्यूरिटी को बुलाया गया। वह इतनी चिपककर बैठी थी कि उसे उठाने की कोशिश में सिक्यूरिटी वाली गिरते-गिरते बची। अब तो खतरा खड़ा हो गया था। प्रो. पटेल ने उसे बहुत प्यार के साथ पूछना चाहा। तो उसने आपका नाम लिया, मैडम और कहा कि मैडम को बुलाओ। मैं तो उनके साथ ही

जाऊंगी। चलो, हमारी जान में जान आई-कुछ रास्ता तो निकला- प्रो. पटेल ने कहा।

पर मेरी जान का क्या- मैंने मन ही मन कहा। किसी तरह सुबह उससे यह कह कर छूटी थी कि देखो आज मेरी ड्यूटी कई जगह लगी है। फिर मिलेंगे। आज नहीं तो फिर कभी। उसने जैसे ही मुझे देखा एक ऐसी नजर से कि आखिर आप बच नहीं सकती थी। वह नजर जिसका अर्थ केवल मैंने समझा। इसी बीच मैंने अपने पति राकेश को फोन पर संक्षेप में जानकारी दे दी थी। वे अपना स्कूटर और एक ऑटो लेकर पहुँचने ही वाले थे।

हम सभी कैंटीन के बाहर आ गए थे। बाहर जो विद्यार्थी खड़े थे उन्हें भेज दिया गया था। अँधेरा हो गया था। कैंटीन के कर्मचारी घर चले गए थे। मैं, प्रो. पटेल, कैंटीन का मेनेजर और दो महिला सिक्यूरिटी- इतने लोग रह गए थे। एक अजब चुप्पी सी थी। प्रो. पटेल मेरे पति का इंतज़ार करते हुए बार-बार सड़क की ओर देख रहे थे। वे खुद इस सब से निजात पाना चाहते थे। वे कई बार बता चुके थे कि आज उनकी बेटी घर आने वाली है। ससुराल में कुछ समस्या थी तो बेटा लेने गया है। नाती भी साथ आने वाला है। ससुराल वाले अपने पोते को भेजना नहीं चाहते थे। बेटी अत्याचार सहने को तैयार थी पर अपने बेटे को अपने से अलग नहीं करना चाहती थी। बड़ी मुश्किल से एक वकील की मध्यस्थी से मामला फिलहाल तो निपटा है। लड़कियों की दिक्कतें कम होने को नहीं आती, मैडम, उन्होंने मुझसे मुखातिब होते हुए कहा। वह पढ़े या न पढ़े, शादी करे या कुँवारी रहे, नौकरी करे या घर बैठे, वह सयानी हो या पागल' बोलते हुए अचानक उनका ध्यान सुनेत्रा की तरफ जाता है वह चुप हो जाते हैं। पर सुनेत्रा उन्हें जैसे

ध्यान से सुन रही थी और सहमत भी लग रही थी। पर वह क्या सोच रही थी कहना मुश्किल था। पर प्रो. पटेलके मन में एक तसल्ली थी कि सस्ते में छूटे। अगर उसने मेरी उपस्थिति की ज़िद न की होती तो मामला कैसे निपटता इसकी कल्पना वे नहीं कर पा रहे थे। ऐसे प्रसंग विश्वविद्यालय में शायद ही कभी घटित होते हैं। फिर यह लड़की तो भूतपूर्व छात्रा थी; विश्वविद्यालय का एलुमिनी। पर ऐसी एलुमिनी कौन चाहता है। विश्वविद्यालय तो ऐसे एलुमिनी छात्र चाहते हैं जो विश्वविद्यालय को कुछ दें। बहुत कुछ दें। फंड दें ग्रांट दें, अपने नाम का क्रेडिट दें, उससे मिलते लाभ दें, ऐसे एलुमिनी जो उनका गौरव बढ़ाएं। जो समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान पर हों। न कि ऐसे जो एक जिम्मेदारी बन जाएं। चाहे संतान हों, संस्थान हों, माता-पिता हों, सब देने वाले हों, माँगने वाले कोई न हो।

नो लाएबिलिटीज प्लीज।

अँधेरे में तेज दौड़ती ऑटो रिक्षा मेरे दिमाग में एक ब्रेक के साथ रुक गई।

तुम्हारा नाम तो मनजीत था। फिर सुनेत्रा कैसे हो गया।

वह बड़े अजब ढंग से हँसी, जैसे मुझे दिए गए धोखे के बाद छली गई मैं, उसके विजय का एक कारण हो।

सही पकड़े हैं।

तभी मैं तुम्हें लोकेट नहीं कर पाई। मनजीत, मैंने तुम्हें पहली बार भूल से मनप्रीत कहा था और तुम ऐसे शरमाई थी जैसे कुँवारी जवान लड़कियाँ बात - बात में शरमाती हैं। मुंडी नीचे डाल आँखें उठाकर वे आपको ऐसे देखती हैं और एक बँधी-बँधी ईशत मुस्कान उसके चेहरे पर खिल जाती है।

उसने अपना मुँह मेरे कानों के पास लाकर, जैसे, कोई रहस्य बता रही हो, कहा- हुआ करता

था। अब सुनेत्रा है। उसी ने दिया है यह नाम।

उसके चेहरे पर मुस्कान नहीं थी- अँधेरे में मैं इतना ही देख पाई थी। जीत के क्षण तक पहुँचकर पराजित होने वाले खिलाड़ी की हताशा और भविष्य की सफलता की उम्मीद वाली धनक उसकी आवाज में थी और उसने कहा- अब जो आपको दिख रही है वह सुनेत्रा ही है। मर गई मनजीत। सुंदर सपनों की डोरी से लटक गई, किसी गुसलखाने में अपनी खुली आँखों के साथ। और वह सहसा चुप हो गई।

रिक्शा रुका। वह मेरे साथ उतरी और हम घर के भीतर पहुँचे।

घर में घुसते ही उसने कहा- यहाँ सब कितना गंदा है। मैं नहाना चाहती हूँ।

पर तुम्हारे पास कपड़े।

तो आप अपना एक ड्रेस दे दीजिए न।

मैं तो साड़ी पहनती थी। पर एक ड्रेस रखा था। मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा वही था। पर जैसे ही उसने देखा तो कहा- कितना गंदा ड्रेस है। और कोई नहीं है आपके पास?

अब मुझे थोड़ा गुस्सा भी आ गया था। हो सकता है इतने घंटों का तनाव मुझ पर भारी-भारी था। कुछ कड़ाई से मैंने कहा-भी यही है, जो है।

वह नहाने चली गई। राकेश ने मुझे इशारा किया कि ध्यान रखती रहूँ।

देर तक शॉवर से पानी गिरने की आवाज आती रही। पता नहीं, कितनी गंदगी पानी के साथ बह रही होगी।

यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि वह किस गंदगी की बात कर रही है.. वह सब जो अँधेरे में हुआ, सबसे छिप कर हुआ। वह सब जो सामाजिक फेमवर्क के बाहर है, गंदा है। वह जो स्वीकृत नहीं हुआ गंदा है, वह जो संपूर्ण नहीं

ठहरा वह गंदा है.. वह जो उन्मुक्त बहा.. गंदा है। तेज धारा सार बरस रहा था और शताब्दियों की गंदे बहकर कीचड़ कर रही थी।

मानसिक असंतुलन नुकीलेपन और तेज धार की तरफ दौड़ता है। वह हवा की ऊँचाइयों में पैंग भरना चाहता है। वह रात किसी तरह कटी' और सुबह भी हुई।

अनकहा, सुनना हर एक के बस में कहाँ-पर सत्य अनकहे में ही छिपा होता है-

इस वाक्य के साथ ही पहला अंक पूरा हुआ।

पर मेरे भीतर तो एक अलग ही कहानी चल रही थी। राकेश ने पूछा- नाटक कैसा लग रहा है। मैं सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकी। मेरा खोया चेहरा देखकर राकेश ने कहा- क्या चलें वापस? मैंने कहा कि मुझे मनजीत से मिलना है। वह मनजीत ही है।

अरे छोड़ो। तुम भी क्या लेकर बैठी हो। ब्रोशर में तो नाम दमयंती लिखा है। एक समान चेहरे वाले कई लोग होते हैं।

ब्रोशर सच नहीं है। सच तो उसकी आँखें हैं' वह तो धोखा नहीं दे सकती।

छोड़ो भी तुम अब।

लेकिन, उन्हीं आँखों ने धोखा खाया था। उन्हें सुनेत्रा बनाकर एक अंधी खाई में धकेल दिया गया था। कहानियाँ वही होती हैं, अमूमन। कसमे वादे..प्यार वफा सब, बाते हैं बातों का क्या'। निमित्त कोई भी हो- भाभी का भाई हो या पड़ोसी हो या सहेली का भाई। मध्य वर्ग की ये लड़कियाँ इसी में मारी जाती हैं। गरीबी, गंदगी का अभिशाप बन जाती हैं।

एक लंबा अंतराल बीच में बह गया। एक बार वह फिर मिली थी हाथ में पोटली लिए। एक झोला जैसा। उसमें एक ड्रेस था। मुचड़ा-सा।

उसके चेहरे और आँखों का सारा नुकीलापन मोथरा हो गया था। चमकते तारों-सी आँखें ढिबरी बन गई थीं। सब परिचित होता है इसीलिए सूझता भी था, वरना इतने उजाले में जीवन के रास्तों पर कैसे चला जाए भला। ज्ञान फोटो के नेगेटिव जैसा हो गया था। हल्की पीली रोशनी का उजाला अँधेरे से अधिक चुभता है। कहने लगी- मैं ठीक हो गई हूँ, अब। यह ड्रेस आपके लिए लाई हूँ। आपने बहुत किया मेरे लिए। यह नया ड्रेस है। आपके लिए लाई हूँ। एक बार पहले भी आई थी। पर आप नहीं मिली थी। आज अच्छा हुआ जो मिल गई। यह ड्रेस मैं कब तक रखूँ अपने पास।

गुड़ीमुड़ी झोले में गुड़ीमुड़ी ड्रेस 'मेरे मन में आया- मेरे लिए लाई है और ऐसा। कितना गंदा है।

मैं बेतहाशा चौक गई। मुझे लग कि चरमरा कर कई-कई पहाड़ मुझ पर टूट रहे हों। मैं घबराकर कुछ पीछे हटी। पर मैं अब किसी भी बात के लिए तैयार नहीं थी। किसी भी तरह का रिस्क नहीं लेना चाहती थी। उस दिन सुबह जिस तरह उसे महिला संस्था में पहुँचाया था और उसके भाई भाभी को सौंपा था मैं भूल नहीं सकती थी। उसे अपने यहाँ रखने की कोई तैयारी नहीं थी। मन में चाह थी पर संभव नहीं था। कल्पना की रोमानियत को यथार्थ के धरातल पर लहलुहान होते मैंने देखा था। जैसे बधिक को गाय सौंपते हैं वैसे ही मुझे उसे उसके भाई-भाभी को सौंपते हुए लगा था।

मैंने कहा देखो मैं काम में हूँ। अगर आज के दिन फिर मिल गए तो मिलेंगे। नहीं तो फिर कभी। सँवलाती पीली शाम जैसी अस्पष्ट पराजित मुस्कान से उसने मुझे देखा, पर मैंने नजर अंदाज

करते हुए अपनी चाल तेज कर ली थी। मैं नहीं जानना चाहती थी कि इस बीच उसके साथ किया हुआ।

तो फिर अब क्या फर्क पड़ता है मुझे कि वह मनजीत है या दमयंती।

चाहना ही समझना है

इस घोषणा के साथ नाटक पूरा होता है। मंच के बीचो-बीच एक पात्र आकर खड़ा था। उसके हाथ में एक प्लेकार्ड था, जिस पर लिखा था चाहना ही समझना है। दोनों विंग्स में से दो पात्र आते हैं ऐसे ही प्लेकार्ड लेकर जिन पर लिखा है-

देखना जरूरी है,

अनकहे में छिपा होता है सत्य

और यह अंतिम-

चाहना ही समझना है।

मैं मंच पर पहुँच बधाई देती और कुछ पूछती तभी नाटक के निर्देशक ने घोषणा की- हमारा अगला नाटक होगा- 'नल-कथा'। बीच जंगल में दमयंतियों को छोड़ने वाले नलों की कथा है। महाभारत से लेकर, हमारे आज के महान भारत तक नल यथावत बिराजमान हैं, इसीलिए दमयंतियाँ भी हैं ही। तो यह नल-दमयंती कथा देखने सुनने और समझने आप सब जरूर आएं। प्रतीक्षा रहेगी।

यह घोषणा सभी के लिए थी। पर न जाने क्यों मुझे लगा कि यह मुझी से कहा जा रहा- पीछे खड़ी मनजीत नहीं सुनेत्रा नहीं दमयंती की आँखों पर हल्का प्रकाश पड़ रहा था। चेहरा आधा ढँका था और एक वजनी मुस्कान उसके चेहरे पर ठहर गई थी।

खिड़की में चाँद सुमन भाटी

आँचल, आज ईश्वर को बहुत धन्यवाद दे रही थी। आँचल की छोटी बेटा की विदाई के साथ वह अपने तीनों बच्चों की जिम्मेदारी पूरी कर चुकी थी। तीनों बच्चों की पढ़ाई-लिखाई फिर शादी-विवाह कर जैसे गंगा स्नान कर लिया हो। घर में मेहमानों का अभी ताँता लगा हुआ था। फिर भी आँचल ने अपने पति को इशारे से बुलाया और कहा कि कमल जी कल सारे मेहमान घर से विदा हो जाएंगे। सुनीता और अनीता भी अगले सोमवार आएगी। अनीता की तो अभी ससुराल वालों से नयापन है, ये भी शुक्र है, सुनीता उसको वहाँ पूरा सहयोग देगी। अभी तो बड़ी बहन थी, अब जेठानी भी बन गई। शेखर भी कल सुबह की गाड़ी से बहु और बच्चों को लेकर चला जाएगा। मैं सोच रही थी कि हम भी परसों गढ़-गंगा के दर्शन कर आते हैं। कमल ने कहा आँचल जो तुमने कहा, मैं तो वहीं करता हूँ। सभी घर-बाहर के काम क्या निपटा कर हम भी गंगा स्नान करने चलेंगे। मैं आज टैक्सी वाले को बोल देता हूँ। इतना कहकर कमल बाहर के कामों में व्यस्त हो गया, शादी के बाद बहुत लोगों का हिसाब-किताब करना होता है। घर के काम आँचल 20 वर्षों से करती आ रही थी। रात हो चली थी, घर में आई मौसी, बुआ जी के लिए आँचल मिठाई, कपड़े और विदाई में देने का समान बाँध रही थी। तभी मौसी बोली, आँचल बेटा तूने तीनों बच्चों को खूब प्यार से पाला-पोसा, आज पता नहीं चलता कि ये तीनों तेरी कोख से नहीं जने। तेरा भी कोई अपना बालक होता तुझे भी माँ का एहसास होता। आँचल चुप रही। ये कोई आँचल के लिए नई बात नहीं थी। जब से आँचल कमल की जिंदगी में आई थी, ये बातें एक-दो साल बाद शुरू हो गई थी। लोगों ने आँचल और कमल को बहुत से डॉक्टरों, वैद्य-हकीमों, झाड़ू-फूँक, बाबा और बहुत से टोटके बताए। जिससे आँचल की गोद भर जाए।

आँचल को कभी लगा नहीं कि सुनीता, अनीता और शेखर उसकी कोख से नहीं जने। शुरू में मुश्किल जरूर आई थी। कमल या बच्चों की वजह से नहीं, दुनियादारी की वजह से। कई बार सुनीता, अनीता और शेखर भी स्कूल से आकर आँचल को पूछते थे कि क्या तुम हमारी माँ नहीं हो, सौतेली माँ हो। तुम तो हमें बहुत मारोगी।

आँचल उनको गले लगा लेती, अपनी छाती से लगाकर रखती। यहाँ तक कि अपने मायके भी कभी-कभार दो-तीन घन्टे के लिए जाती थी। एक बार सुनीता खेलते समय छत से गिर गई, सुनीता की बचने की आस भी नहीं थी।

तब गली-मोहल्ले और रिश्तेदारी के लोग देखने आते तो मोटी-मोटी आँखों से आँचल को घूरते और मुँह बनाकर कहते कि अपना बालक होता तो ध्यान रखती, सौत का है, अच्छा बला टले और न जाने क्या-क्या।

कमल और आँचल का प्रेम बहुत गहरा था, दोनों में प्रेम के साथ विश्वास भी था। कमल को आँचल पर विश्वास था कि आँचल घर और बच्चों दोनों को संभाल सकेगी। दुनिया के ताने जहरीले तीर से भी ज्यादा जख्म देते हैं, कई बार आँचल बहुत रोती, जब दुनिया की बातें सुनती। एक दिन कमल और आँचल शिव मंदिर गए तब कमल ने आँचल से कहा कि आँचल शारदा के बाद मैं बहुत बिखर चुका हूँ। तीन छोटे-छोटे बच्चों की जिम्मेवारी, पिता जी और मेरी नौकरी। मैं, क्या-क्या संभालता। दूसरा, मेरे मन में भी बहुत-सी बातें चलती हैं, बहुत कुछ बातें सांझा करने का मन करता है, जो मैं न माँ-पिता जी से कर सकता और न दोस्तों और रिश्तेदारों से। मुझे भी खुद खड़ा होने के लिए मजबूत सहारे की जरूरत है, वो तुम हो।

आज शिव मंदिर में देखो शिव, माँ पार्वती के साथ है। तभी तो शिव शक्ति कहलाते हैं। आँचल, तुम मेरी शक्ति हो, मैं तुम्हारे बिना अधूरा हूँ या यूँ कहूँ कि हूँ ही नहीं। तभी आँचल, कमल का हाथ पकड़कर कहती है कि कमल जी मैं आखिरी साँस तक तुम्हारे साथ रहूँगी।

आज शादी के बीस-इक्कीस साल बाद भी कमल और आँचल ऐसे लगते हैं जैसे नव-विवाहित हो। घर के सारे मेहमान जा चुके थे। शेखर भी पूणे के लिए गाड़ी पकड़ चुका था। ड्राइवर गाड़ी लेकर दरवाजे पर खड़ा था। कमल बाहर गया हुआ था, आँचल ने फोन किया।

कमल तुम कहाँ हो।

कमल, पास ही नोहरे पर हूँ।

आँचल, ड्राइवर आ गया, गाड़ी लेकर।

कमल, दो मिनट में पहुँचता हूँ, तुम तैयार रहो, घर बन्द कर लो।

आँचल, ठीक है जी।

आँचल ने ड्राइवर को कहा कि भैया थोड़ा रुको।

कमल घर आया तो बैग, थैला और सूटकेस गाड़ी में रखे।

कमल गाड़ी में बैठकर आँचल को पुकारने लगा।

तभी आँचल हरी साड़ी पहने गाड़ी के बाहर आई तो कमल देखता ही रहा, जैसे पहली बार देख रहा हो।

आँचल ने कमल की ओर देखा तो आँचल शरमा गई। थोड़ी देर तक तो कमल आँचल को गाड़ी के शीशे में पीछे बैठी सीट पर देखता रहा फिर ड्राइवर को कहा कि मैडम की तबीयत थोड़ी खराब है, मैं पीछे ही बैठ जाता हूँ। ड्राइवर ने गाड़ी रोकी और कमल झट से आँचल के पास बैठ गया और आँचल का हाथ हाथों में ले लिया। तभी आँचल ने कहा, धत कोई देख लेगा, क्या कहेगा।

बुढ़ापे में मस्ती आ रही है। हँसकर, कमल ने आँचल को कहा।

कमल गाँव से बहुत दूर निकल आए। तभी मैं तुम्हारे पास आया हूँ।

आँचल, फिर तो तुम डरते हो।

कमल, घर आकर सभी के आगे तुम्हारा हाथ पकड़कर घूमूँगा, तुम हाथ मत छुड़ाना।

आँचल, शर्म करो, ड्राइवर भी गाँव का है।

कमल, इतना पागल नहीं हूँ कि घूमने जा

रहा हूँ गाँव का ड्राइवर लूंगा। बाहर से बुलाया है।

आँचल, अच्छा जी पूरी प्लानिंग में हो। धर्म की जगह जा रहे हैं, गोवा या शिमला नहीं।

कमल, अगले महीने एक महीने की छुट्टी लेकर शिमला या नैनीताल चलो।

आँचल, धीरे-धीरे मुस्कुराती हुई कमल के कंधे पर सिर रखकर पता नहीं कब खो गई।

गाड़ी होटल के आगे रुकी, तब कमल ने आँचल को धीरे से उठाया। कमल गाड़ी से उतरा, गाड़ी का सामान लेने आया, कमल ने होटल की चाबी ली। कमल आँचल को लेकर रूम में चला गया। कमल ने दो कप चाय आर्डर की। कुछ देर में वेटर चाय लेकर आ गया और चाय पीकर कमल और आँचल दोनों आराम करने लगे। होटल का कमरा बहुत सुंदर था, दीवार पर टंगी पेंटिंग भी बहुत सुंदर लग रही थी। आँचल और कमल नहा-धोकर, खाना खाकर कमरे में आए। शायद आज कमल और आँचल पहली बार घर से ऐसे बाहर अकेले आए थे। दोनों ही एक-दूसरे से शरमा रहे थे। आँचल और कमल रात को सोने की तैयारी कर रहे थे।

कमल ने आँचल से कहा, आँचल मेरे जीवन में आने के लिए शुक्रिया। कमल ने आँचल के हाथ पकड़ रखे थे। खिड़की से चाँद की रोशनी सीधे कमल के चेहरे पर पड़ रही थी, कमल की आँखें आँचल के चेहरे को निहार रही थी। कमल, आँचल के आँचल में सिर रखे लेटा था। आँचल की आँखों में आँसू आए।

कमल ने कहा, मेरे से कोई गलती हुई है क्या?

आँचल ने कहा, कमल शुक्रिया तो तुम्हारा है, मुझ पर मेरे जीवन पर। तुम मेरे जीवन में न होते शायद, मैं कहाँ होती या यूँ कहूँ जीवन भी

होता या नहीं। कमल, तुम्हें मालूम है, जब तुम मुझे मिले थे आँचल ने कहा।

कमल ने कहा, आँचल तुम ही सूट में मुझे मिली थी, सहमी-सहमी-सी।

कमल, तुमने मुझसे शादी करके मेरा अस्तित्व ही बदल दिया। समाज में एक पत्नी, माँ और बहु बना दिया। आज मैं भी सम्मान की जिंदगी गुजार रही हूँ।

कमल, आँचल तुम ऐसी बातें याद मत करो। दोनों बातें करते-करते सो गए।

आँचल की नींद रात को खुली, वो खिड़की के पास जाकर चाँद को निहारने लगी। चाँद की बिखरी चाँदनी से चारों तरफ चाँदी जैसी चमक आ रही थी? रातरानी, रजनीगंधा, पारिजात, महुआ, चंपा, चमेली, मधु कामनी के फूल और ज्यादा खिल-खिलाकर खिल रहे थे। आँचल सोचने लगी जैसे कल की बात है। कमल और तीन छोटे-छोटे बच्चों ने मेरी जिंदगी में आकर मुझे जीवनदान दे दिया हो। फिर अचानक ही बचपन में खो गई। जब होश सँभाला तो माँ ने स्कूल नहीं जाने दिया। दूसरे बहन-भाई सब स्कूल जाते थे। मेरा स्कूल में जिद्द करने पर भी दाखिला नहीं करवाया। दादी-दादा, सारा दिन अपने घर के काम कराते रहते थे। माँ ने सारा दिन बचपन से ही घर के कामों में डाल दिया। आँचल ने पड़ोस की भाभी से थोड़ा पढ़ना-लिखना सीख लिया था।

जब 13-14 साल की हुई तो गली में सिलाई सेंटर आया, पड़ोस की सभी लड़कियों सिलाई सीखने के लिए कहा। माँ बड़ी मुश्किल से मानी। पापा और भाई-बहनों ने तो कभी बात की नहीं। घर के सभी अपने-अपने काम बता देते थे, जो सारे काम करके मैं अकेली रहकर जी लेती थी। माँ-बहन से कभी बातें करती थी तो

वह मुझे ज्यादा बात न करती थी। मुझे काम में लगा देती या कोई नया काम बता देती थी। माँ ने सिलाई के लिए हाँ कर दी, मुझे जैसे खुशी मिल गई। पहली बार मैं कई लोगों के साथ रहूँगी, बचपन से स्कूल की कक्षा में बैठने का मन जैसे सिलाई की क्लास में पूरा होने वाला है। घर के सभी कार्यों को जल्दी-जल्दी पूरा कर मैं सिलाई मशीन साफ करने लगी। माँ की सिलाई मशीन भी जैसे मेरे ही तरह बहुत समय से रूकी पड़ी थी। अब मेरे ही तरह उसकी भी आंतरिक खूबसूरती निकल कर आने का समय हो गया था। सिलाई मशीन को साफ करके, तेल लगाकर रखा तो वह बहुत हल्के फिरकी की तरह चलने लगी। इसी तरह मैंने भी अपने कदमों को सिलाई की क्लास में बढ़ाये। शुरू में सिलाई की क्लास में मुझे बहुत हिचक महसूस होती थी। कुछ दिनों में मेरी दो-तीन सहेलियाँ बन गई थी। जिनका मिलना-जुलना माँ और घर के अन्य लोगों को पसंद था।

समय गुजरता रहा सिलाई की क्लास घर से थोड़ी दूर थी। रास्ते में एक पड़ोस का लड़का हमेशा मेरा इंतजार करता था लेकिन मुझे शायद उसका इंतजार करना पसंद नहीं था। लेकिन, घर में मैं ये सभी बातें किससे कहूँ। घर में अगर बात बताऊँ तो घर वाले मुझे सिलाई सिखाने भी नहीं भेजते। जैसे-तैसे सिलाई की क्लास का भी अंतिम दौर था। मैं पड़ोस के कपड़े सिलाई करने लगी, घर-बाहर के कपड़े सिलाई आने लगे। पड़ोस और आस-पास के लोग सिलाई की बहुत तारीफ करने लगे। जब कोई औरत सिलाई के लिए आती अक्सर मेरी शादी की बात करती। बेटी जवान हो गई है, कमेरी भी है, घर का सारा काम जानती है जिस घर जाएगी खूब भाग्यशाली

होगा। अचानक छोटे भाई के रिश्ते वाले आए, छोटी बहन और भाई की शादी हो गई। कभी माँ ने या किसी ने मेरी शादी की बात घर में नहीं की, न ही कभी मेरे दिल में ऐसा ख्याल आया। अब भाई-भाभी को, बहन-जीजा को पास बैठे देखती थी तो अब मेरा मन भी मुझे कचोटता था। एक दिन हिम्मत जुटाकर माँ से पूछा, माँ तूने मेरी शादी क्यों नहीं की।

माँ ने कहा, तेरी शादी का तो हमारा मन ही नहीं है।

क्यों माँ?

मेरा भी मन है कि मेरी शादी हो, मेरा दुल्हा हो।

माँ चुप रही, बिना बोले चली गई।

मैं माँ के पीछे चली।

माँ तुम बोलती क्यों नहीं।

माँ ने कहा, तू सिलाई कर बस, हमारे पास रहो, दाल-रोटी खाती रहो।

छोटा भाई, बहू के साथ शहर चला गया। तेरी बहन अपने घर चली गई। हमारे पास तो तू ही है। तेरी भी शादी कर दी तो हमारे पास कौन रहेगा?

माँ एक बात कहूँ?

बोलो।

मेरा भी अब शादी का मन है, मेरी भी शादी करो।

माँ फिर चुप रही, नहीं बेटा, नहीं हो सकता।

माँ क्यों नहीं हो सकता।

आँचल आज तू मेरे साथ रात को मेरे साथ सोना छत पर।

अब मैं रात का इंतजार करने लगी थी। जल्दी-जल्दी माँ के साथ चूल्हा-चौका कर सभी काम समेट रही थी।

माँ बिस्तर लगा दूँ छत पर।

हाँ, आँचल मुझे याद है।

चल माँ, जल्दी चल।

तू चल आँचल सोने, मैं आ रही हूँ। आँचल छत पर चली गई। बिस्तर लगाकर माँ का इंतजार करने लग गई।

माँ काम समेट कर आई, माँ तुम आ गई। माँ मुझे शादी करनी है तू मेरी शादी क्यों नहीं करती।

माँ ने कहा, आँचल धीरे बोल, घर वाले सभी सुन लेंगे। क्लेश हो जाएगा।

तेरे दादी-दादा, पिता जी सुन लेंगे, फिर क्या हुआ। माँ उनको तो बताना पड़ेगा।

माँ तो अच्छा है आप बता देना। नहीं, आँचल मैं नहीं कह सकती।

क्यों माँ?

फिर पिता जी से कौन बात करेगा।

आँचल माँ मैं पिता जी से बात करूँ।

पिता जी ने कभी मुझसे बात नहीं की। आखिर क्यों?

माँ, सच क्या है बताओ।

मैं तो हमेशा घर रही हूँ, कभी बाहर नहीं गई। घर के सभी काम करती रही हूँ। फिर भी भाई-बहन ने मुझसे प्यार नहीं किया।

बहन-भाई स्कूल जाते थे, मैं टिफिन पैक करती थी, उनके बैग लगाती थी। उनकी वर्दी प्रेस करके रखती थी। लेकिन, उन दोनों ने कभी मुझे अपना नहीं माना। मैंने क्या गुनाह किया माँ।

आज जैसे न जाने कितने प्रश्न मेरे मन में आ रहे थे, जिनका हल खोजने की कोशिश में लग गई।

माँ ने कहा, बेटा तेरी शादी नहीं हो सकती।

आँचल - क्यों माँ?

माँ - तू औरत का सुख नहीं दे सकती

किसी पुरुष को।

आँचल, माँ मुझे खाना-बनाना, घर सँभालना, सभी तो आता है।

घर में जो भी औरत आती है सिलाई के लिए कपड़े लेकर सभी कहती हैं कि आँचल सबको सुखी रखेगी।

माँ ने कहा, बेटा तू औरत नहीं है।

माँ मेरे बाल हैं, मैं चोटी बनाती हूँ। खाना बनाती हूँ। सभी काम करती हूँ। तो ये सभी काम तो औरतों वाले हैं जो मुझे आते हैं।

माँ ने कहा, आँचल पति-पत्नी के आपसी संबंध होते हैं। तू उस संबंध के लिए नहीं बनी, बेटा आँचल।

क्यों माँ?

माँ ने कहा, बेटा तू पूरी तरह औरत नहीं है, इसलिए कभी तेरी शादी की बात नहीं की। तेरे पिता जी को पता है। दादा-दादी जी को भी पता है।

मैंने हाथ जोड़कर तुझे घर में रखा ताकि मेरा बच्चा मेरे सामने आगे रहे। मैं तुझे अपने से अलग नहीं कर सकती थी, मैं तेरी शादी करूँगी तो दुनिया के सामने ये बात आ जाएगी कि तू स्त्री नहीं है।

माँ, मैं क्या हूँ?

बेटा तू किन्नर है, तू हिजड़ा है।

मैं, अपनी बेटी को ये शब्द नहीं कह सकती। मैंने सबसे छुपाकर रखा अगर तेरी शादी करी तो सबको पता चल जाएगा।

अब मैं बैठी सुन रही थी। जैसे बस बुत बन गई हूँ।

अब सोचने लगी थी कि जब सिलाई की क्लास में लड़कियाँ पूछती थी कि तेरे महीने की तारीख क्या है।

महीना होना जो मासिक प्रक्रिया है। मुझे

आज मालूम हुआ। मेरी माँ-बहन को जब होता था तो मुझे बड़ी धिन आती थी। मैं जब सोचती थी, शुक्र है मुझे ये नहीं होता।

मैंने, ये किसी को भी नहीं बताया था कि मुझे महीना नहीं होता। बस, अब तो माँ ने मुझे अपनी ओर खींचा और अपने सीने से लगा लिया। बेटा बड़ा छुपाकर रखा तुझे दुनिया की नजर से, कहीं दुनिया को पता चल गया तो तुझे कौन ले जाएगा मुझे पता नहीं चलेगा। माँ रोती रही, कहती रही, मेरा मन तो है शुरू से है कि तेरी शादी हो तू दुल्हन बनकर जाए। मैं पता नहीं कब तक हूँ। माँ अपने पास मुझे लेकर सो गई।

मैं रात-भर सो न सकी। आज से पहले प्रश्न और थे, आज रात प्रश्न कुछ और बदल गए थे। आज से पहले शिकायत माँ-पिता जी, दादा-दादी जी, बहन-भाई से थी कि उन्होंने मुझसे सौतेला व्यवहार किया पर अब तो मुझे खुद से शिकायत है कि मैं औरत नहीं हूँ। फिर मैं क्या हूँ खुद से प्रश्न करती रही। कब नींद आ गई पता नहीं चला।

सुबह आँख खुली, आज दिन पहले से अजीब लग रहा था। मन खुद की तलाश कर रहा था। घर के कार्यों में पहले की तरह दुरुस्त होकर भी मन खुद को ढूँढ़ रहा था।

पड़ोस की चाची आकर माँ से कहने लगी। मेरे दामाद के मामा के बेटे की घरवाली तीन बच्चों को छोड़कर चली गई हमेशा के लिए।

मैंने, आँचल के लिए रिश्ते की बात की है। तुम हाँ कर दो बस।

मैंने, आँचल की बात कर रखी है।

माँ ने दबे मन से आँचल से बात की।

आँचल ने कहा कि माँ मैं क्या करूँगी शादी करके।

माँ ने कहा, बेटा चाची ने बुला लिया अब

क्या कहूँ।

देख लेते हैं, फिर मना कर देंगे।

अगले दिन चाची ने आकर कहा कि वो आज आ गए हैं।

माँ ने कहा, आँचल थोड़ा बन-संवर कर आ बेटा।

आँचल, माँ अब मन नहीं किसी तरह का।

माँ, आँचल फिर भी तैयार रहना।

चाची, आँचल को अपने घर लेने आ गई।

आँचल घर चल, थोड़ा चाय-पानी बनाने में मेरी मदद कर।

माँ ने कहा, आँचल जाओ चाची के साथ चाची के घर में मेहमान आ रखे थे। मैं चाय बनाकर, चाय कप में डालकर सभी के लिए ले गई।

चाची ने कहा, आँचल बैठो।

आँचल थोड़ा हिचकते हुए पास रखी कुर्सी पर बैठ गई।

कमल ये आँचल है, जिससे बात चलाई है।

आँचल के मन में बहुत तूफान चल रहा था। अब वह जान चुकी थी अपने बारे में, अपने अस्तित्व के बारे में।

आँचल ने कहा, चाची मुझे कमल से बात करनी है।

चाची, आँचल को देखकर चुप रही, मन-मन में सोच रही थी कि आँचल जो कभी बोलती भी नहीं सुनी, आज कैसे कह रही है।

चाची, हाँ-हाँ क्यों नहीं।

चाची और सभी लोग कमरे से बाहर आ गए।

अब कमरे में सिर्फ कमल और आँचल थे, दोनों एक-दूसरे से अनजान, दोनों ही सहारे की तलाश में, दोनों ही बिखरे और उलझे मन के।

कमरे में शांति ही शांति थी।

आँचल चुप्पी तोड़ते हुए कमल को बोली, मुझे आपसे कुछ कहना है, आप मुझसे विवाह क्यों करना चाहते हो।

कमल ने आँचल से कहा, मेरी पत्नी शारदा का अचानक देहांत हो गया, मेरे तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। माँ-पिता जी मेरे साथ रहते हैं, मेरी पोस्टिंग दूर है। माँ से बच्चों की देखभाल नहीं होती।

आँचल बीच में बोल पड़ी, फिर इसके लिए शादी की क्या जरूरत है।

कमल ने आँचल को देखा और कहा कि मुझे भी जरूरत है।

जरूरत कैसी, आँचल ने कहा।

शारीरिक या मानसिक।

कमल ने कहा, समझा नहीं मैं।

आँचल, आप बुरा मत मानना।

कमल ने कहा, मुझे एक दोस्त चाहिए, जीवन साथी चाहिए, जो मेरे दुख-सुख में मेरे साथ रहे। जिसको मैं कभी दुखी होकर दुख बताऊँ तो आधा हो जाए, सुख बताऊँ तो दोगुना हो जाए। जो मेरा साथ दे। मेरे घर और मेरे बच्चों को अपना समझकर प्रेम दे।

स्त्री सुख न दे सके तो आँचल ने धीरे से कहा।

कमल, मैं समझा नहीं।

आँचल, मैं कभी माँ नहीं बन सकती।

कमल, तुम्हें किसने कहा।

आँचल, माँ ने।

माँ ने कहा, मैं स्त्री नहीं हूँ, पुरुष को स्त्री-सुख नहीं दे सकती।

माँ ने ये बात बताने को मना किया था, लेकिन आपकी बात सुनने के बाद मैं खुद को

रोक नहीं सकी। जिसके साथ जीवन गुजारना है, उसे सारा पता होना चाहिए। माँ ने कहा कि शादी के बाद पूरी दुनिया को ये सच पता चल जाएगा। इसलिए, माँ ने मेरी शादी नहीं की और शायद करेगी भी नहीं।

कमल उठकर आँचल के पास आकर धीरे से हाथ पकड़कर बोला, मुझे हमदम चाहिए, एक सहारा चाहिए, एक माँ चाहिए, सच कहूँ तो घर के लिए लक्ष्मी चाहिए।

आँचल के शरीर को किसी ने पहली बार छुआ था, भावुक बातें भी पहली बार की थी, शायद अपनेपन से बातें भी किसी ने पहली बार की थी।

आँचल ने खुद को और अपने शरीर को सहजकर कमल को कहा, मैं औरत नहीं हूँ। औरत जैसा शारीरिक सुख मैं, तुम्हें नहीं दे पाऊँगी।

कमल ने आँचल के मुँह पर हाथ रखकर कहा, बस तुम कुछ न कहो, मुझे तुम हर हाल में मंजूर हो आगे तुम्हारी मर्जी। तुम मेरे बच्चों की माँ और मेरी जीवनसाथी बनोगी। ये बात दोबारा मत कहना।

कमल के हाथ आँचल के मुँह पर थे और कमल आँचल के बहुत करीब। आँचल खुद को संभालकर भी संभाल नहीं पा रही थी। उसे भी कमल का साथ पाने को, उसको समर्पित होना चाहती थी।

कमल ने कहा, आँचल कब आऊँ? तुम्हें तुम्हारे घर लेने।

आँचल की नजरें झुकी थी। शरमा कर भी और नए जीवन के लिए खुश भी थी।

इतने में चाची अचानक कमरे में आ गई। दोनों को इतना करीब देख चाची जान चुकी थी कि दोनों की एक-दूसरे के लिए रजामंदी है।

चाची बोली, मिठाई ले आऊँ कमल।

कमल, हाँ चाची।

आँचल की नजरें नहीं उठ पा रही थी।

कुछ समय पहले जिसके लिए माँ ने मना किया था, वो सपना पूरा होने जा रहा था, जो माँ ने भी देखा था। मिठाई खिलाने के बहाने चाची घर आई।

बधाई हो! आँचल की माँ, तुम्हारी बिटिया अब पराई हो गई।

कमल बाबू ने हाँ कर दी है। कमल बाबू की बहनें आती होंगी। शायद आज ही ले जाए।

आँचल की माँ ने कहा, ऐसा कैसे हो सकता है चाची?

क्यों नहीं?

नहीं, मैं तो कह रही हूँ इतनी जल्दी कैसे चाची, तेरी बेटा का भाग्य ही ऐसा है, राज करेगी। शायद ईश्वर ने इसलिए इसकी शादी नहीं कराई।

माँ के मन में एक तूफान सा आ चुका था। खुशी भी थी कि आँचल को सहारा मिलेगा। लेकिन, बहुत डर भी था कहीं ये राज दुनिया के आगे न खुल जाए, कि आँचल किन्नर है।

माँ दौड़कर चाची के घर गई।

आँचल, कमल के साथ सोफे पर बैठी थी।

कमल की बहनें बाजार से सुहाग का सामान लेने गई थी।

आँचल माँ को देखकर थोड़ा उठने वाली थी कि कमल समझ गया कि आँचल की माँ है। कमल, आँचल से पहले उठा और आँचल की माँ को कहा, आप आँचल की माँ हो, मेरे भी तीन छोटे बच्चे हैं, उनको माँ का इंतजार है। वो अपनी माँ को रोज पूछते हैं। माँ जी आँचल को आशीर्वाद दो कि वो तीनों बच्चों और अपने घर

को संभाल सके। आप किसी बात की चिंता न करें।

आँचल की माँ के सामने कमल हाथ जोड़कर खड़ा रहा। कमल ने आँचल की माँ को कहा कि माँ जी, अब आँचल मेरी है, मेरे बच्चों की माँ है। अब आप बस विदा करें?

आँचल की माँ ने कमल के पैर पकड़ लिए। कमल, माँ को उठाते हुए बोला, बड़ों के हाथ सिर्फ आशीर्वाद के लिए होते हैं।

कमल, माँ जी आज ही आँचल को हम ले जाएंगे।

माँ, इतनी जल्दी कैसे होगा?

कमल, आप बस आशीर्वाद दो, मेरे बच्चे अपनी माँ का इंतजार कर रहे हैं। बहुत दिन हो गए। आज बच्चों की माँ को लेकर ही जाऊँगा।

माँ, जल्दी-जल्दी घर आई, आँचल के दादा-दादी को सारी बात बताई, पिता जी अभी बाहर से आए ही थे।

माँ ने कहा, लड़के वाले आँचल को आज ही ब्याह कर ले जाना चाहते हैं।

पिता जी, तो मैं क्या करूँ?

माँ- कन्यादान तो कर दो, समाज की खातिर ही सही।

माँ के कहने से पिता जी चाची के घर आ गये। चाची पंडित जी को बुला लाई थी। गली मोहल्ले की सभी औरतें और लड़कियाँ इकट्ठी हो गई थी।

आँचल की शादी की रस्में देखते-ही-देखते सपने की तरह पूरे हो गए।

अब आँचल की विदाई थी, आँचल का बहुत मन था कि उसके पिता जी उसे गले लगाएं, बचपन से तरसी है पिता के प्यार को। लेकिन, पिता जी रुखे हुए दीवार के साईड में खड़े रहे। जिस गाड़ी में कमल आँचल को देखने

आया था, उसी में वो उसको ले गया।

आँचल के लिए तीनों बच्चे कोई नए नहीं थे। कमल ने तीनों बच्चों की माँ की जिम्मेदारी आँचल को दे ही दी थी। तीनों बच्चे आकर आँचल के आँचल में सिमटकर बैठ गए और आँचल बिस्तर पर उनके साथ सो गई। सुबह आँचल की नींद जल्दी खुल गई। ससुराल का नया दिन, नई सुबह, नई उमंग के साथ। लेकिन, पहले से कहीं ज्यादा खुशी भरा जीवन था। अब आँचल का अपना घर, अपना अस्तित्व, अपने बच्चे और परिवार था। सास-ससुर की सेवा करती। एक रात बच्चे दादी के पास सो गए या यूँ कहे दादा-दादी ने कहानी सुनाने के बहाने अपने पास सुला लिए ताकि कमल और आँचल मिल सके। दोनों का मिलन हो।

नई दुल्हन की तरह सजी आँचल हरी साड़ी पहने कमल का इन्तजार कर रही थी। सारा दिन घर के कामों से थकी आँचल को कब झपकी लगी पता नहीं चला। जब कमल के हाथों ने उसके बालों को चेहरे से हटाया, कमल का स्पर्श पाकर एकदम से आँचल उठ बैठी।

कमल, आँचल सो जाओ थक गई होगी।

आँचल, नहीं जी, थकना कैसा।

कमल, कैसा लगा। परिवार, बच्चे और घर, माँ-पिताजी।

आँचल, स्वर्ग है, आपका शुक्रिया।

कमल, आँचल, तुम्हें मैं पसंद हूँ।

आँचल, शरमा गई, नीचे मुँह करके बस गर्दन से हाँ का इशारा किया।

कमरे की खिड़की खुली थी, सदी का आरंभ हो चुका था। चाँद अपनी चाँदनी से कमरे में दस्तक दे रहा था। धीरे से कमल ने बिजली का बटन बंद किया। आँचल ठण्डी हवा को रोकने के लिए खिड़की बंद करने के लिए उठी

तो कमल ने हाथ पकड़ लिया और हमेशा के लिए आँचल को अपना बना लिया। आँचल की रजामंदी उसमें थी। आँचल स्त्री न होकर भी आज स्त्री सुख पा चुकी थी। माँ का सुख तो आँचल पा चुकी थी। आज पत्नी भी बन गई। ठण्डी हवा अब गरम बदन को अच्छी लगने लगी थी।

सुबह न जाने कब हो गई। आँचल के चेहरे पर जैसे चाँद अपनी चाँदनी की चमक खूब छोड़ गया हो। यूँ ही जीवन के सुख-दुख कटते रहे। आज तीनों बच्चों की शादी विवाह करके भी हमारे रिश्ते में कितना अपनापन है, आँचल खिड़की में खड़ी होकर चाँद से कह रही। इन 20-21 सालों की दूरी कैसे तय कर ली। आज भी सर्द हवा कमरे में दस्तक दे रही थी, तभी पीछे से कमल ने आकर आँचल को जकड़ लिया और बिस्तर पर ले गया।

आँचल, मैं खिड़की बंद कर आती हूँ। आँचल खिड़की बंद करने आगे बढ़ी कि कमल ने आँचल का हाथ पकड़कर आँचल को अपने आगोश में ले लिया। आँचल ठंड लग जाएगी।

अब बुढ़ापा है।

कमल, किसने कहा आँचल, तुमने कब मुझे संभाल लिया, बच्चों को संभालकर, उनको लायक बनाया और शादी-विवाह कर दिये।

कमल, आँचल, तुम न होती तो क्या होता।

आँचल, कमल, तुम और बच्चे मेरी जिंदगी में न आते तो मेरा तो अस्तित्व ही मिट जाता। आज मैं दुनिया में माँ, पत्नी, बहु सभी रिश्तों से बँधी हूँ। सच में कमल तुमने सच कर दिया कि हर पुरुष एक सा नहीं होता कि उसे स्त्री-सुख या शारीरिक सुख ही चाहिए। तुमने मुझे मान-सम्मान, इज्जत सभी कुछ दिया।

कमल ने फिर आँचल के होंठों पर हाथ

रखा और आँचल को खुद में समेट लिया। खिड़की में निकला चाँद पहली रात और आज की रात की गवाही देता। खिल-खिलाकर स्वागत कर रहा था। सर्द रात में भी जैसे उनको अब सरदी का एहसास नहीं था। दोनों एक-दूसरे की बाँहों में समेटे खिड़की के चाँद को, उसकी बिखरी चाँदनी को देख रहे थे, जो उनके भी तन-मन पर पड़ रही थी। आँचल खुद को कमल की बाँहों में ऐसे देख शरमा गई और कमल ने कहा खिड़की से चाँद तो देख रहा है।

आँचल, धत शरम करो।

कमल, किसकी।

आँचल, चाँद की।

कमल, चाँद भी चाँदनी के साथ खिड़की से हमारे लिए दुआ कर रहा है। सुबह कमरे से अपने कपड़े समेटते हुए आँचल ने कमल को जगाया।

सुनो जी, गढ़गंगा के स्नान करने जाना है। उठो जल्दी।

कमल, आँचल पास आकर उठाओ।

आँचल, नहीं अब नहीं, मैं नहा-धो चुकी हूँ। जल्दी चलना है।

कमल, एक बार उठा दो।

आँचल, नहीं जी, मैंने सारे कपड़े और सामान ले लिया है।

कुछ देर में आँचल और कमल तैयार हो कमरे से बाहर आए। गढ़गंगा के स्नान और दर्शन करने चले। घर वापसी में आँचल ने कमल को कहा, आप मेरे साथ ही बैठना। कमल मुस्कराया कहा, पगली मैं तो तेरे ही साथ हूँ, हमेशा तेरे साथ ही रहूँगा। कमल ने गाड़ी का दरवाजा खोला, पहले आँचल को कार में बिठाया फिर खुद बैठ गया।

आँचल ने कमल का हाथ अपने हाथ में पकड़कर अपना सिर कमल के कंधे पर रख दिया और कहा, तुमने मुझे अस्तित्व दिया, मान दिया, सम्मान दिया। कमल तुमने मेरा जीवन बचा लिया। मेरे अधूरे जीवन को पूरा किया। कमल ने धीरे से आँचल का माथा चूमा और कसकर पकड़ लिया। अभी तो बुढ़ापा बाकी है। जब बूढ़े की सेवा करोगी तो पता चलेगा। दोनों ठहाके मार-मारकर हँसने लगे। अब भी चाँद आसमान में चमक रहा था बस अब कार की खिड़की से झाँक-झाँक कर दोनों के अमर प्रेम को देख रहा था।

जहाँ आप पहुँचे छलांगें लगाकर, वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे : रामदरश मिश्र

मो. हारून रशीद खान

रामदरश मिश्र : मेरी बाबाओं में स्रष्टा नहीं है, बल्कि मेरा एक उपन्यास अंश है, वह 'शब्दिता' में आ रहा है। मैं अपने बगीचा को याद कर रहा हूँ। बचपन में हम लोग खेलते थे-कूदते थे। बारतें आती थीं, नाच-गाना होता था। उसमें कभी वह दृश्य भी आ जाता है 'खाकी बाबा' का। 'खाकी बाबा' अपने शिष्यों के साथ दरवाजे-दरवाजे घूमते थे। गरीब लोग उनको रोटी दे रहे हैं। उसमें 'पवहारी प्रपंच' भी है। मन्नन गायक ने द्विवेदी जी की एक कविता सुनाई थी 'पवहारी प्रपंच'। पवहारी बाबा आए तो मन्नन जी मिलने गए। उन्होंने देखा कि बाबा और लोगों से हाल-चाल पूछते हैं इनसे कुछ नहीं पूछा। हाँ, बेटा कैसे हो? मन्नन जी कुछ ले नहीं गए थे, तो घर आए, एक स्त्रिया लिया, फिर गए। एक स्त्रिया रखा तो बाबा पूछे हाँ बेटा, कैसे हो? बिल्कुल एक तरह से मैं नास्तिक हूँ। यह है बाबाओं का दंड-कमंडल। इंसानियत बड़ी चीज है, आदमी का मन साफ हो। कबीर का एक दोहा है -

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग भया, पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम का...

प्रेम इतना बड़ा शब्द है अपने आप में सबको समेटे हुए है। प्रेम में इतने डायमेशन हैं, ये पोथी पढ़कर प्रवचन कर रहे हैं।

मो. हारून रशीद खान : आजकल तो हर दूसरे दिन एक नए बाबा उठ खड़े होते हैं और अगले दिन जेल चले जाते हैं।

रामदरश मिश्र : बाबाओं का भी क्या है, लोग जो उनकी पूजा करते हैं। लोगों की अंधश्रद्धा है तो बाबा बने हुए हैं और बनते क्यों हैं? हम लोगों ने बनाया है उनको। बस बंदूक ताने हुए हैं। ये बंदूक भी बहुत काम आती है।

मो. हारून रशीद खान : आप दिल्ली कब आए?

रामदरश मिश्र : सन 1964 में। मैंने 1956 में बी.एच.यू. में अपनी थीसिस सबमिट की फिर चला गया बड़ोदरा की एम. ए. यूनिवर्सिटी में। एक साल वहाँ रहा, फिर बीमार पड़ गया। फिर, अहमदाबाद चला गया, अहमदाबाद में छह साल रहा। यहाँ माडल टाउन था, वहाँ 1960 में मकान ले लिया। मैं 1990 में अवकाश ग्रहण किया। 1964 में आ गया था दिल्ली यूनिवर्सिटी में।

मो. हारून रशीद खान : आपके साहित्य-लेखन की शुरुआत किन परिस्थितियों में हुई?

रामदरश मिश्र : जब मैं प्राइमरी में पढ़ता था तो जब कोई लोकगीत सुनता था

या पाठ्यक्रम में जो कविताएँ पढ़ता था तो मुझे इच्छा होती थी कि काश मैं भी ऐसा लिखता। बड़े सहज रूप से मेरी कविताएँ आई। किसी ने प्रेरित नहीं किया, किसी ने कुछ कहा नहीं। अपने आप मन में एक इच्छा जगती थी कि काश मैं भी लिखता। एकाध पंक्तियाँ लिखा भी। तब दर्जा छह में था मैं। एक विद्यार्थी ने कहा कि उसके गाँव का एक लड़का पढ़ता है गोरखपुर में। कविताएँ लिखता है तो मेरे भीतर भी दमित इच्छा जाग पड़ी कि मैं भी कविताएँ लिखूँगा। कांग्रेस की सभा थी स्कूल के पास। मैंने उस पर एक कविता लिखी। उसी समय से धीरे-धीरे लिखना शुरू किया और छंद का, अलंकार का अभ्यास करना शुरू किया। हमारे गाँव के पास एक कवि थे, उनका शिष्य बना, उन्होंने बहुत सिखाया। फिर गीत लिखना शुरू किया और लिखता गया। सन 1945 में मैं बनारस गया। उससे पहले जो लिखता था, बस लिखता था। मुझे पता नहीं था कि साहित्य में क्या हो रहा है। कौन क्या लिख रहा है, कौन-सी धारा बह रही है। ठेठ देहाती था। मेरे मन में साहित्य तो था लेकिन साहित्य को जो पूरा परिवेश व्याप्त था उसका मुझे ज्ञान नहीं था।

मो. हारून रशीद खान : आपका कौन-सा गाँव था...

रामदरश मिश्र : गाँव डुमरी है। पूरा परिवेश था, ऐसे ही मिला हुआ था। वहाँ पर मेरे मन में साहित्य तो था, लेकिन साहित्य का परिवेश ज्ञात नहीं था। हालाँकि, मैंने विशारद भी किया, जो कोर्स में प्रक्रिया थी उसको पूरा किया। छायावाद का असर मेरी भाषा पर था, मेरे भाव पर पड़ना शुरू हो गया था, क्योंकि जयशंकर प्रसाद को, सुमित्रानंदन पंत को कोर्स में पढ़ता था तो लगता था कि यही अच्छी कविता है। जो मेरे भाव थे गाँव के थे, प्रकृति के थे, प्रेम के थे। प्रेम के वे

भाव, भाषा में व्यक्त हो रहे थे। अच्छे-अच्छे गीत लिखने लगा था। ऐसा मुझे महसूस हुआ कि अब लिखने लगा। काशी में जाने के बाद मुझे लगा कि साहित्य की दुनिया कहाँ जा रही है और त्रिलोचन जी ने कहा कि देखिए, जो भाषा आप इस्तेमाल कर रहे हैं, वह जा चुकी है। छायावाद जा चुका है। पहले तो मुझे अच्छा नहीं लगा था। मेरी इतनी अच्छी कविताएँ हैं, इतनी अच्छी भाषा मेरी है, लेकिन धीरे-धीरे महसूस हुआ कि नई दुनिया आ चुकी है कविताओं की। तो बदलाव शुरू हुआ। मेरा पहला काव्य-संग्रह आया सन 1962 में। उसमें छायावादी गीत, कविताएँ हैं, लेकिन सन 1971 में जो दूसरा काव्य-संग्रह आया उसमें लोकोन्मुख भाषा, लोकोन्मुख भाव था। फिर चलता रहा ऐसे ही। मैं किसी वाद से नहीं जुड़ा रहा, लेकिन समय के साथ रहा मैं। तो समय को वाद वाले भी पकड़ते रहे और वाद से मुक्त होकर मैं समय को पकड़ता रहा। जो समय की चेतना है, समय का भाव है, समय की भाषा है। मेरी कविताओं में सहज भाव से आते गए और जब आज मैं स्वयं को देखता हूँ तो लगता है कि मेरा एक संग्रह दूसरे संग्रह से थोड़ा अलग है। अलग लिखा नहीं मैंने, समय के साथ जुड़ने के नाते वह अलग होता गया भाषा में भी, भाव में भी, विषय में भी और कविता के साथ मैं अब तक चल रहा हूँ।

मो. हारून रशीद खान : आप कविता से कथा में क्यों आए?

रामदरश मिश्र : कविता से नहीं आया, कविता के साथ आया हूँ। बहुत से लोगों ने ऐसा किया है, कविता से आए हैं। राजेंद्र यादव पहले कवि थे, बाद में कथाकार हुए। चाहे मेरी कहानी हो, उपन्यास हो, निबंध हो, यात्रावृत्त हो या संस्मरण हो, जहाँ कहीं आवश्यकता होती है कविताएँ वहाँ दस्तक देती हैं। जहाँ लगता है कोई अच्छा दृश्य

है, कोई अंतरमन की बात कहनी है, जहाँ बिंबों की आवश्यकता महसूस होती है, वहाँ कविता आ जाती है। कविता मुझे प्रिय है। कथा-साहित्य भी मुझे उतना ही प्रिय है। मेरा कथा-साहित्य ज्यादा अपनाया गया।

मेरी कविताओं पर करीब बीस शोध प्रबंध हैं, कहानी पर पच्चीस और उपन्यास पर सवा सौ शोध प्रबंध हैं। लोगों को कथा-साहित्य पर शोध करने में आसानी होती है। कविता में घटनाओं को पकड़ना मुश्किल होता है। इसका यह मतलब नहीं है कि कविता कहानी की अपेक्षा या उपन्यास की अपेक्षा कमजोर सी चीज हो गई है।

मो. हारून रशीद खान : वे कौन से सामाजिक-आर्थिक दबाव थे कि आपने अध्यापन के समानांतर लेखन को भी अपनाया?

रामदरश मिश्र : सबका अपना-अपना महत्व है। मैंने तो यही कहा है कि सहज भाव से कविता लिखी, किसी के दबाव से नहीं। मेरे अध्यापन में सर्जक से टकराहट नहीं है। मैं साहित्यकार पहले था, अध्यापक बाद में हुआ। मैं तो यह भी कहता हूँ कि आप सर्जक हैं तो अध्यापकपन में एक नई ज्योति आती है, एक नई दृष्टि आती है। अध्यापन में एक पारंपरिक नोट पढ़ाएंगे। जो पहले कह दिया, वही कहते रहेंगे। लेकिन, अगर सर्जक हैं आप, आधुनिक सर्जक हैं तो आपको रीतिकाल को, मध्यकाल को भी नई दृष्टि, नए दिमाग से देखेंगे। मेरे सर्जक ने अध्यापक को बल दिया, अध्यापक ने सर्जक को बल दिया। सर्जक, अध्यापक के नाते मुझे बहुत पढ़ना पड़ा। अगर आप अध्यापक नहीं हैं तो हो सकता है आपको कम पढ़ना पड़े। यह भी कोर्स में है, वह भी कोर्स में है यानी आपकी मजबूरी है कि आपको यह पढ़ना है। मेरे सर्जक और मेरे अध्यापक में मेल रहा है, एक संवाद रहा है।

मो. हारून रशीद खान : आज लेखन आंतरिक

विवशता है या अर्थ-यश प्राप्ति का सोपान?

रामदरश मिश्र : हिंदी में लेखन से तो पैसा मिलता नहीं है। अगर कोई यह सोचकर लिखे कि इससे हमें पैसा कमाना है तो गलत सोच रहा है। भीतर की पुकार है, हमें भीतर से अकुलाहट होती है, लिखने की इच्छा होती है, हम लिखते हैं। देखिए, इसके कई सोपान होते हैं। एक है अभिव्यक्त करना। मन कहता है लिखने के लिए, अगर मन नहीं कहता है देखा-देखी आप लिखते हैं तो वह चल नहीं पाता है। मन करता है लिखने के लिए। तो आप तमाम प्रकार की सीमाओं के भीतर भी लिखेंगे। अभावों के बीच भी लिखेंगे। एक लेखक का जो प्रथम बिंदु है, अभिव्यक्ति है वह। हम अपने को व्यक्त करते हैं, लेकिन अपने को व्यक्त करके हम रूक नहीं जाते। हम चाहते हैं कि हमारी जो अभिव्यक्ति है वह संप्रेषित हो, लोगों तक पहुँचे। दो मन होते हैं, एक व्यक्ति मन और दूसरा लोकमन। लोकमन जब हम लिखते हैं तो उसका साधारणीकरण होता है, क्योंकि लोग कहते हैं कि यह तो हमारी बात कह दी आपने। जब कोई पाठक फोन करता है, अरे! आपने हमारी बात कह दी तो कितना सुख मिलता है। लगता है कि हमारी कविता धन्य हो गई। उसके बाद पुस्तक छपती है, पुस्तक बिकती है तो जो कुछ मिल जाता है, मिल जाता है। कुछ प्रकाशक हैं, कुछ रायल्टी दे देते हैं, कुछ नहीं देते हैं। कुछ पत्रिकाएँ हैं, कुछ दे देती हैं, कुछ नहीं देती हैं। कोई अर्थोपार्जन के लिए लिखे वह पागल आदमी है। वह सब जानते हैं कि हिंदी में कम से कम पैसा नहीं मिलता। लेखन स्वान्तः सुखाय है।

मो. हारून रशीद खान : आपने गाँव को अपने लेखन का केंद्र बिंदु बनाया। निश्चय ही इसका कारण यह होगा कि 'यह आपका देखा भोगा हुआ' यथार्थ है। लेकिन, पिछले दिनों ढेरों रचनाएँ

इस तरह की आई जो 'ग्राम-कथा' के पैशन के तहत लिखी गई। आपका लेखन इस पैशन के प्रवाह से कितना बच पाया है?

रामदरश मिश्र : मेरा लेखन पैशन है कि नहीं है इसका निर्णय तो पाठक करेंगे। लेकिन, मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि जो कुछ मैंने गाँव में अनुभव किया वही लिखा। जो कुछ शहर में अनुभव किया वही लिखा। कहानियों में, उपन्यासों में, कविताओं में जो कुछ है, मेरा जिया हुआ है, गाँव में या शहर में। जहाँ कहीं भी मैं रहा, वहाँ की जिन्दगी को जिया, उस जिये हुए जिंदगी को मैंने अपने लेखन में लिया है। इसलिए पैशन के तहत तो मैं आता नहीं। देखिए, पैशन वहाँ होता है, जहाँ अपना रास्ता नहीं होता है जो कुछ वह लिख रहे हैं, वैसा ही लिखो। आप गाँव के नहीं हैं और यदि गाँव पर लिखे हुए की चर्चा हो रही है तो आप भी गाँव पर लिखने लगते हैं। यह लेखन प्रमाणिक नहीं होता, पैशन होता है। मेरी एक कविता है - यह रास्ता चिकना था, हरा-भरा था, लेकिन अपना नहीं था/लेकिन जब-जब उस पर पाँव रखा, फिसलकर गिर पड़ा/अपना रास्ता तो बीहड़ है, सुनसान है, तपाता है/लेकिन गिराता नहीं, हैरान करता है, खड़ा करता है/बाहर-बाहर माँजता है, भीतर-भीतर बड़ा करता है।

तो अपना रास्ता वही होता है जो अपने अनुभव से पूटा हो। आपके तजुर्बे से पूटा हो। एक बात और भी है कि विजन आपका होना चाहिए। जैसा मैंने कहा कि मार्क्सवाद को मैंने एक विजन के तौर पर लिया। यह नहीं कि मार्क्सवाद ने कहा कि इस पर लिख दो, तो लिख दिया। एक विजन है कि आज आदमी के प्रति आपका लगाव कितना गहरा है। किसान हो, मजदूर हो। ये जो तमाम अंड-बंड रूढ़ियाँ हैं, उससे आप कितना मुक्त हैं। मैं शहर में भी रहा तो अनुभव तो मैंने शहर का लिया, लेकिन विजन गाँव का ही था।

और मैं कहता हूँ कि गाँव मात्र एक स्थल है, इसका महत्व नहीं है। वह विजन भी है कि आप गाँव में रहें या न रहें, लेकिन विजन आपके साथ रहेगा। गाँव को जिया है आपने, गाँव का भाईचारा मन में है, गाँव का तीज-त्योहार आपके मन में है। जहाँ कहीं भी रहेंगे वह विजन आपके मन में रहेगा। सुमित्रानंदन पंत की एक पंक्ति है - "देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।" तो ग्राम नयन भी होता है। हमारे देश को देखना हो तो गाँव के नयन से देखना पड़ेगा, शहर कितने हैं? सब गाँव ही तो हैं। गाँव ही हमें खाना देता है। गाँव ही हमें कपड़ा देता है। हम तो भोगने के लिए शहर में आ पहुँचे हैं। बनाता सब गाँव है। उस गाँव के नयन को आप छोड़ देंगे तो आप गाँव के होकर भी, गाँव के नहीं होंगे।

मो. हारून रशीद खान : गाँव को छोड़े हुए आपको बहुत दिन हो गए, गाँव को छोड़ने के बाद आपने गाँव पर खूब लिखा।

रामदरश मिश्र : हाँ, गाँव को छोड़े बहुत दिन हो गए तो भी मैंने गाँव पर खूब लिखा। हर विधा में लिखा। यह असहज बात नहीं है। भोगे हुए जीवन को तुरंत रचना में उतारना सही नहीं होता। अनुभव में बहुत कुछ रचना के लिए अग्राह्य भी होता है। अनुभव को तरंत रचना में उतारने से रचना में बहुत-सी अवांछित बातें आ जाती हैं। अनुभव और उसकी रचना में समय की एक दूरी होती है। वह दूरी अनुभव में व्याप्त अनावश्यक तत्वों को छँटकर अलग कर देती है। मैंने गाँव में रहकर गाँव के जीवन को जिया। जब उससे कुछ दूर हुआ तो वह जीवनानुभव अपने साथ ही और वांछित रूप से मेरी रचनाओं में उतरने लगी। मेरी एक कविता है-हमारे हाथ में सोने की नहीं /सरकंडे की कलम है/सरकंडे की कलम/खूबसूरत नहीं सही लिखती है/वह विरोध के मंत्र लिखती है, प्रशस्ति पत्र नहीं लिखती है/हम कठघरे में

खड़े हैं, खड़े रहेंगे/और कठघरे में खड़े हुए हर हाथ को अपने हाथ में ले लेंगे।

राजा कौरव हों या पाण्डव

हम तो हमेशा वनवास ही झेलेंगे।

मो. हारून रशीद खान : आपके लेखन का आरम्भ गाँव से हुआ था 1950 के आस-पास। तब काशी साहित्य की नगरी थी जहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, शंभुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, आदि थे। उस समय के काशी के साहित्यिक माहौल के बारे में जानना चाहता हूँ।

रामदरश मिश्र : मैं तो सन 1946 में काशी पहुँच गया था और 1946 में किसी स्कूल में था। बी.एच.यू. के अंदर नहीं था मैं। अनेक साहित्यकारों से भेंट-मुलाकात होती रहती थी। जब मैं मैट्रिक कर रहा था 1946 में तभी त्रिलोचन से भेंट हुई और बड़े-बड़े शायर बेढब बनारसी, नजीर बनारसी से भी मुलाकात हुई। वह समय बहुत अच्छा समय था। कवि-गोष्ठियाँ होती थीं। गोष्ठियों में जाते थे हम लोग। बनारस में जयशंकर प्रसाद के एक शिष्य थे राजेंद्र नारायण शर्मा होमियोपैथी के डाक्टर थे। बड़े प्रभावशाली आदमी थे। मेरा परिचय हुआ तो प्रश्रय दिया। मेरी कविताओं को उन्होंने सराहा भी, छँटा भी। वाराणसी के दैनिक अखबार 'आज' और 'संसार' में कविताएँ छपी भी। एक तरह से एक चहल-पहल के बीच मैं आया। लेकिन सच पूछिए तो बी.एच.यू. में जाने के बाद एक नई दुनिया मुझे मिली। त्रिलोचन, ठाकुर प्रसाद मिले और शंभुनाथ जी पहले से थे। नामवर भी आ गए थे।

मो. हारून रशीद खान : नामवर जी पहले से थे?

रामदरश मिश्र : नामवर आ गए थे। शंभुनाथ जी पहले से थे। उन्हीं दिनों शिवमंगल सिंह 'सुमन' डी.लिट कर रहे थे। वहाँ पर शिवप्रसाद सिंह थे,

हरि मोहन थे, विष्णुचंद्र शर्मा थे और विष्णु शर्मा भी, केदारनाथ सिंह थे। साहित्यकारों की एक बड़ी दुनिया थी। हम लोग एक दूसरे में आ जाकर बनते रहे थे। खूब गोष्ठियाँ होती थीं। हम सभी लोग अभाव के मारे हुए थे। किसी के पास पैसा नहीं होता था। यहाँ-वहाँ और रचनाओं पर खूब चर्चा होती थी। आलोचनाएँ भी होती थीं। लोग सीखते थे, उस समय गोष्ठियों के माध्यम से और कवि-सम्मेलनों के माध्यम से भी। बहुत चहल-पहल का समय था। शिवप्रसाद सिंह कहानीकार थे, मैं कवि था। लेकिन, धीरे-धीरे मेरे भीतर कहानीकार भी पैदा होने लगा। शिवप्रसाद सिंह ने कविताएँ भी लिखीं। त्रिलोचन भी होते थे। हम लोग उनका बड़ा सम्मान करते थे, क्योंकि बड़े विद्वान और पढ़े-लिखे नए ढंग के कवि थे। सन 1950 में आ गए द्विवेदी जी। हुआ ऐसा कि सन 1950 में मैंने बी.ए. किया, केशव प्रसाद मिश्र बड़े विद्वान आदमी थे। वे छायावाद के श्रेष्ठ अध्यापक थे। उन्होंने हमें जो 'कामायनी' को पढ़ाई थी अब तक उसके सारे बिंब याद हैं। वह रिटायर हो गए तो मैंने कहा कि अब यहाँ क्या है, इलाहाबाद चलते हैं। इलाहाबाद गया, नाम लिखवाया, फिर लौटकर के बी.एच.यू. आया तो राजबली पाण्डेय मिल गए। इतिहास के बड़े विद्वान थे। पूछा तो बताया इलाहाबाद में नाम लिखवा लिया, उन्होंने बड़ा डाँटा। वहाँ राजनीति करनी है तुमको। द्विवेदी जी यहाँ आ रहे हैं।

मो. हारून रशीद खान : द्विवेदी जी शांति निकेतन से आए थे?

रामदरश मिश्र : मेरा स्वभाव है कि मैं मिल-जुलकर अपना परिचय देता नहीं हूँ। यहाँ भी, वहाँ भी। द्विवेदी का शिष्य तो मैं हुआ। ठाकुर साहब (नामवर सिंह) इस मामले में बड़े तेज हैं। पहले से ही उनका परिचय रहा द्विवेदी जी से। मैं आगे बैठता था क्लास में। लेकिन, द्विवेदी जी की

निगाह मुझ पर पड़ी नहीं थी। उन्हीं दिनों काशी विद्यापीठ में एक गोष्ठी थी। द्विवेदी जी वहाँ पहुँचे थे। मैंने एक गीत पढ़ा - 'उमड़ रही पुरवइया कुतल जाल सी, लहर रहे अंबर में काले-काले बदरा।'

मैंने देखा, द्विवेदी जी झूम रहे हैं। मैं और मस्ती में गीत गाने लगा। जब मैं पढ़ चुका तो पूछते हैं, 'क्या करते हो तुम?' मैंने कहा, आपका शिष्य हूँ। उसी दिन से मैं उनका आत्मीय हो गया। बड़ा प्यार मिला उनका। हम अपना सौभाग्य मानते हैं कि वे गुरु मिले। वे बड़े विद्वान, बहुत बड़े आदमी थे, बड़े उदार थे। आप जाइए उनके पास तो यह सोचकर क्या करेंगे, क्या न करेंगे। आप बैठे हैं, वे शुरू। बैठाकर उन्होंने खूब पढ़ा दिया। चलते-फिरते ऐसी बातें करते थे, चलते-चलते एक ऐसे सूत्र दे देते थे कि आप बहुत सोचकर भी नहीं पा सकते।

मैं एम.ए. में था तो वृंदावन लाल वर्मा पर शोध कर रहा था। मैंने कहा, पंडित जी वर्मा जी के जो उपन्यास हैं उन उपन्यासों में कथा बहुत ही ऊबड़-खाबड़ है। द्विवेदी जी ने कहा, बुंदेलखंड को देखा है तुमने। इतना बड़ा पंगड़ होगा, एक धोती छोर यहाँ तक होगी। एक वहाँ तक होगी। लट्ट लिए। वो...वो...वो... देखो उसको, वैसे ही। वर्मा जी का जो ऊबड़-खाबड़ प्लॉट है, वह इसी कारण है। देखो... देखो विंध्य की पहाड़ियाँ हैं सूखे-सूखे पेड़ उगे हुए हैं उनपर। उन पेड़ों को रस कहा से मिलता है, भीतर से मिलता है तो वर्मा जी के जो उपन्यास हैं उनको भीतर से रस मिलता है। ऊपर-ऊपर आपको दिखाई पड़ेगी कि सूखी-सूखी है, भीतर-भीतर रस बहता रहता है। ऐसे अनेक सूत्र देते थे तो हम लोगों की इच्छा होती थी कि काश आज शाम को टहलने में उनका साथ मिल जाए।

मो. हारून रशीद खान : नामवर सिंह को उन्होंने

बचाया बहुत है?

रामदरश मिश्र : हाँ, बचाया बहुत है। नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह ज्यादा निकट रहे पंडित जी के। पंडित जी के यहाँ विश्वनाथ त्रिपाठी भी आते थे, पान लेकर। वह भी पंडित जी के निकट रहे। हम लोग भी रहे।

मो. हारून रशीद खान : शिवप्रसाद सिंह का आरोप है कि नामवर सिंह ने उन्हें बहुत परेशान किया था।

रामदरश मिश्र : नामवर सिंह में और शिवप्रसाद सिंह में द्वंद्व चलता रहा। शिवप्रसाद सिंह अहंकारी थे। अगर दोनों लोग बैठे हुए हैं किसी रेस्तरां में, समोसा आ गया तो नामवर सिंह कहते मैं समोसा नहीं खाऊँगा। समोसा शिवप्रसाद को प्रिय है। यह सब चलता रहता था दोनों में। खूब मस्ती थी बनारस में। इसके बावजूद दोनों में हेलमेल था। मुझे लगता है उन लोगों की जो दुनिया बनी है उसकी नींव बनारस में पड़ी है।

मो. हारून रशीद खान : आपने गीत विधा को क्यों छोड़ दिया? क्या कहानी और उपन्यास की वजह से या एक उम्र के बाद गीत लिखना मुश्किल है?

रामदरश मिश्र : गीत मैंने भी लिखे हैं, काफी लिखे हैं। मेरे नए संग्रहों में भी गीत दिखाई पड़ जाएंगे। एक काव्य-संकलन चार-पाँच साल पहले आया था, उसमें 27-28 गीत हैं। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो पहले गीत लिखते थे, फिर गीत का तिरस्कार करने लगे। मैं गीत को अब भी प्यार करता हूँ, लेकिन मुझे लगा कि जो गद्य छंद की कविता है उसमें बहुत बातें कही जा सकती हैं इसमें। उस संकलन में बहुत-सी कविताएँ आई हैं, जिनका अपना रंग है, अपना स्वाद है। बहुत कुछ गीत में नहीं आ सकता था। गीत में एक छोटी-सी दुनिया होती है। आपने एक टेक लिया, फिर अंतरा लिया, फिर काफिया मिलाया।

यह जो मुक्त छंद है उनमें आपके भाव की, आपके विचारों की दुनिया चलती है। छोटा-सा बिंदु भी बड़ा-सा पेड़ बन जाता है। लेकिन, मैंने कविता में सीमित नहीं किया अपने को। मैं कहानी में गया, उपन्यास में गया, निबंध में भी गया तो फिर गीत को क्यों मैं छोड़ूंगा। गीत में गया, गजल में गया, मुक्तक मैंने बहुत लिखे हैं तो मैंने कहीं अपने को बाँधा नहीं है। किसी भी शैली में बाँधा नहीं है। लेकिन फिर भी यह है कि जो सदा एक केंद्रीय शैली है, वह गद्य शैली है, लेकिन अब यह है कि मेरे दो संग्रह मुक्तक के आए। गीत भी मेरे किताबों के अंदर पड़े हुए हैं, लेकिन जो आजकल नवगीत लिखे जा रहे हैं, नवगीत के नाम पर वह मुझे पसंद नहीं है। शुरू-शुरू में तो अच्छे लगे थे, बाद में उसमें जान नहीं होती है। लगता है कि जैसे कुछ कलापूर्तियाँ करके खानापूर्ति की जाती है। न तो उनमें आवृत्ति होती है, न कोई बड़ी भारी बात होती है। वही बरगद का पेड़, वही प्रेम, तुलसी का पौधा और कुआँ छूट गया या किसी का प्रेम टूट गया। नवगीत में लगातार यही देखेंगे। इसीलिए, मैंने अपने को गीत में सीमित नहीं किया।

मो. हारून रशीद खान : आपने अभी नवगीत की चर्चा की और गजल की भी। तो क्या कोई गजल सुनायेंगे?

रामदरश मिश्र : बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे/ खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे/किसी को गिराया न खुद को उछाला/कटा जिंदगी का सफर धीरे-धीरे/जहाँ आप पहुँचे छलाँग लगाकर/वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे/पहाड़ों की कोई चुनौती नहीं थी/उठाता गया यों ही सर धीरे-धीरे/गिरा मैं कहीं तो अकेले में रोया/भरा दर्द से घाव धीरे-धीरे/न हँसकर न रोकर किसी में उड़ला/पिया खुद ही अपना जहर धीरे-धीरे/जमीं खेत की साथ लेकर चला था/उगा उसमें कोई शहर धीरे-धीरे/

मिला क्या न मुझको ऐ दुनिया तुम्हारी/मुहब्बत मिली है अगर धीरे-धीरे

मो. हारून रशीद खान : आप गाजीपुर आए थे। विवेकी राय जी के घर पर ठहरे और जितेंद्रनाथ पाठक के घर भी गए। आपको गाजीपुर का अदबी माहौल कैसा लगा?

रामदरश मिश्र : गाजीपुर का अदबी माहौल मैं दो दिन में नहीं जान सका। विवेकी राय तो मेरे बहुत पहले के परिचित हैं। गाजीपुर न गया होता तो भी विवेकी राय, विवेकी राय थे। जितेंद्रनाथ पाठक हमारे सहपाठी जैसे थे। गाजीपुर के और लोगों को मैं पढ़ता रहा हूँ। राही मासूम रजा, कुबेरनाथ राय और वेदप्रकाश 'अमिताभ' को भी पढ़ता रहा हूँ। गाजीपुर के ही नित्यानंद तिवारी को पढ़ता रहा हूँ। गाजीपुर जाने के बाद कोई खास मेरी पहचान नहीं बनी। विवेकी राय ने अपने आवास पर एक कवि-गोष्ठी रखी थी। लोगों से मिला-जुला। मुझे लगता है कि गाजीपुर का साहित्यिक माहौल बहुत अच्छा है, समृद्ध है। लिखने वाले बहुतेरे होते हैं, लेकिन बड़े नाम वाले थोड़े होते हैं।

मो. हारून रशीद खान : आजादी के बाद अधिकतर कथाकारों ने गांधीवाद को अप्रासंगिक करार दिया है। आप स्वयं खादी पहनते हैं इसे देखते हुए यह कहना चाहूँगा कि गांधीवाद आज कितना प्रासंगिक रह गया है?

रामदरश मिश्र : बेटा, गांधीवाद पर कोई साहित्य लिखा जा रहा हो तो ऐसी कोई बात नहीं है। साहित्य लिखा जा रहा है, उसमें गांधीवाद का प्रसंग आए वह अलग बात है। गांधीवाद को लेकर कोई चीज लिखी जा रही है और भवानी भाई ने लिखा था कि हम गांधीवादी हैं और यह जरूर है कि गांधीवाद का जो सत्य है अधिक मूल्यवान है, मार्मिक है। उस सत्य के साथ आदमी को होना चाहिए। प्रेम है, अहिंसा है, सत्य है। ये

हमेशा से मूल्यवान रहे हैं। जो गांधी जी के सत्य के साथ रहेंगे तो उनका विरोध कोई नहीं करेगा और उस सहज भाव से वह चीजें गांधीवाद से जुड़ती रहेंगी। लेकिन, गांधीवाद को सामने रखकर कोई चीज लिखी जाए, आज ऐसा कोई नहीं कर रहा है। अब तो मार्क्सवाद को सामने रखकर कोई भी चीज नहीं लिखा जा रहा है। भले आज मार्क्सवादी हैं लोग, लेकिन शुरू-शुरू में जब मार्क्सवादी हुए थे तो मार्क्सवाद ने क्या कहा है, उनका विजन क्या है, ये तमाम चीजें सामने होती थी, क्या नहीं लिखना चाहिए। अब मार्क्सवादी लोग मुक्त हो गए, भले मार्क्सवादी बने हैं। उनके लेखन में अब वह बात नहीं है।

मो. हारून रशीद खान : गिरिराज किशोर ने गांधी पर एक उपन्यास लिखा 'पहला गिरिमिटिया'। दूसरा उनकी पत्नी पर 'बा' लिखा। लेकिन जो बात 'पहली गिरिमिटिया' में है, वह बात 'बात में नहीं आ सकी।

रामदरश मिश्र : वह तो एक जीवनी हो गई न गांधीवाद पर, साहित्य नहीं हुआ। गांधी विश्व के लिए आज बड़े प्रासंगिक हैं। आजकल जो खुराफात हो रहा है, जो हिंसा हो रही है उसके बरअक्स गांधी का जो सत्य है, अहिंसा है उसका बड़ा मूल्य है। हर आदमी प्रकारांतर से कहीं न कहीं से सत्य के साथ अपने को पाता है, लिखता है।

मो. हारून रशीद खान : आज आप मानते हैं गांधी की प्रासंगिकता है?

रामदरश मिश्र : हाँ, आज भी प्रासंगिक हैं गांधी जी। पूरे विश्व में प्रासंगिक हैं, लेकिन मैं यह कहता हूँ गांधीवाद को लेकर कोई चीज दिखाई नहीं देती। गांधी ने यह कहा था। गांधी का जो मूल्य सत्य है हमारे साहित्य में है। साहित्य का मूल्य है प्रेम, अहिंसा, भाईचारा, सद्भाव तो साहित्य का मूल्य तो यही है, गांधी का मूल्य भी है तो साहित्य तो अपने को गांधीवाद के करीब पाता

है।

मो. हारून रशीद खान : 'जल टूटता हुआ' और 'पानी के प्राचीर' जैसे आंचलिक उपन्यासों के रचनाकार के रूप में आपकी पहचान है। आंचलिक उपन्यास में यथार्थबोध विशेष संदर्भ में फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, शानी, शिवप्रसाद सिंह और विवेकी राय के बारे में आपकी क्या राय है?

रामदरश मिश्र : अरे! इनके बारे में क्या कहूँ। आप जानना चाहते हैं इतने लोगों के बारे में तो मैं क्या बात करूँ। फणीश्वरनाथ रेणु मेरे प्रिय उपन्यासकार हैं, खासकर 'मैला आँचल'।

मो. हारून रशीद खान : नागार्जुन...

रामदरश मिश्र : नागार्जुन में गाँव प्लेस है, कथा जो है पारंपरिक है। केवल उनके ठवरुण के बेटे में कथा-संवाद करती है। बाकी में तो कथा कहते चले जाते हैं, चाहे 'बलचनमा' हो या अन्य। जमीन गाँव की है। ये उनके आंचलिक उपन्यास हैं। नागार्जुन गाँव की तमाम परस्पर बातें करते हैं। पात्र आते जाते हैं। कभी किसी की कथा तो कभी किसी की कथा। कभी अतीत है, कभी वर्तमान।

मो. हारून रशीद खान : 'बूँद और समुद्र' को भी आंचलिक माना गया है।

रामदरश मिश्र : आंचलिक नहीं माना गया है। कह भी सकते हैं। उसमें लखनऊ की एक खास जमीन ले लिया। एक यह भी सवाल उठता है कि आंचलिक उपन्यास गाँव पर आधारित हैं। लखनऊ का चौक है। जैसे 'सागर लहरें और मनुष्य' में। 'बूँद और समुद्र' में आधा मछुआरों का है, आधा मुबई का है। कथा मछुआरों के बीच में सीमित नहीं रहती है निकल जाती है। आंचलिक होते-होते उपन्यास अ-आंचलिक हो गया।

मो. हारून रशीद खान : विवेकी राय के 'सोनामाटी' के बारे में आपकी क्या राय है?

रामदरश मिश्र : विवेकी राय का 'सोनामाटी'

लोकप्रिय है। विवेकी राय तो ठेठ गाँव के थे। गाँव को उन्होंने खूब पचाया। गाँव के साथ ही जीते रहे। पहले उनके जब छोटे-छोटे उपन्यास आए थे 'बबूल' और 'पुरुष पुराण'। 'पुरुष पुराण' की समीक्षा मैंने की थी 'धर्मयुग' में। विवेकी राय के पास गाँव का इतना अनुभव है, तो मैंने कहा, बड़ा उपन्यास लिखिए न। ये छोटे-छोटे उपन्यास क्यों लिख रहे हैं आप। फिर उन्होंने 'लोक-ऋण' लिखा।

मो. हारून रशीद खान : 'लोक-ऋण' तो प्रेम पर केन्द्रित है...

रामदरश मिश्र : हाँ, प्रेम पर केन्द्रित है, लेकिन गाँव है न उसमें। विजन है न उनका। कहीं-कहीं टकराता है हमारा और उनका विजन।

मो. हारून रशीद खान : विवेकी राय की भाषा बहुत कमजोर है। उनके उपन्यासों में पृष्ठपेषण बहुत है।

रामदरश मिश्र : देखिए... देखिए 'लोक-ऋण' में वह आदमी जो है प्रोफेसर है। खुद ही जज है। वह कहता है, वह अपने को चुनता है, तमाम जो पत्र आए हैं सरपंच बनने के लिए। अब ये चीज है अच्छा नहीं लगता कि पढ़ा-लिखा आदमी खुद अपने को स्वीकार कर लेगा। यह जो दुनिया है गाँव की, विवेकी राय गाँव को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। 'सोनामाटी' के अंत में गीत गवाते हैं। ऐसा लगता है कि गीत मरने न पाए सब इकट्ठा कर दो। उपन्यास में गीत आते हैं तो कथा के अंश बनकर। गीत का एक स्थान है। वह कथा के भीतर आया है, कथा को सघन बनाने के लिए। लाभान्वित करने के लिए आता है। इन्होंने कथा से हटकर के दोनों नाव पर सवार बाप और बेटे को बैठाते हैं। इसके बावजूद बहुत अच्छा उपन्यास है।

मो. हारून रशीद खान : बारात जा रही है और पिता खेत देखने जा रहा है। वैसे भी सोना अलग

हो गया माटी अलग हो गया।

रामदरश मिश्र : लेकिन, 'सोनामाटी' अच्छा है। लेकिन, तमाम लोगों पर बात करने से बेहतर है कि आंचलिक उपन्यास पर ही बात की जाए। जैसे शिवप्रसाद सिंह ने कहा कि हमें कोई आंचलिक उपन्यासकार न कहे। लेकिन, 'अलग अलग वैतरणी' आंचलिक उपन्यास के नाते ही इतना मशहूर हुआ। वह मूल्यवान है। आंचलिक का मतलब यह नहीं होता कि आपका उपन्यास एक गाँव पर सीमित है। बड़ी बात यह है कि आपने गाँव के माध्यम से सारे गाँवों को जीवन में रूपांतरित कर दिया है। एक होता यह है कि आप गाँव के बारे में बहुत कम जानते हैं। गाँव के बारे में सूचनाएँ दे दीजिए। गाँव में यह होता है, वह होता है। न तो पात्र जीवंत होंगे न कथाएँ जीवंत होंगी, न गाँव की जमीन जीवंत होगी। पूरा आंचलिक उपन्यास पहली बार में गाँव का एक स्थल नहीं है। गाँव पूरा कैरक्टर है। उपन्यास में पूरे गाँव को उठाया गया है, वहाँ के पात्रों को, नदियों को और नालों को। इतना जीने के बाद जो उपन्यास बना वह एक अच्छा बिंब बना। तो सारे गाँव का प्रतीक बन गया। यह नहीं है कि आंचलिक उपन्यास का मतलब एक छोटा सा गाँव का चित्र है, तमाम गाँव की कहानी है। मैं आंचलिक उपन्यास को बहुत अच्छा मानता हूँ। नामवर जी ने लिखा, बहुत दिनों के बाद जीते-जागते पत्र आए। कविता ने क्या कहा जीया हुआ जीवन सत्य है। अज्ञेय जी की एक कविता है 'आँखें' - आँखें तो बहुत थी दर्द सभी में था/ लेकिन मैंने पहचाना नहीं था/ एक दिन एक आँख केवल मेरी आँखों में धंस गई।

और उन आँखों का दर्द मेरा बन गया/ उसके माध्यम से सारी आँखों का दर्द मेरा दर्द बन गया

एक तो पहचान लिया आपने बिंब क्या होता है, पंक्ति विशेष का होता है। विशेष के

माध्यम से आप आम आदमी को पहचानते नहीं हैं। उस आदमी के बारे में दर्द के माध्यम से आँखों का दर्द मेरा दर्द बन गया। पहाड़ आपने देखा ही नहीं है। पहाड़ पर लिख दिया। अगर पहाड़ को देखा होगा आपने तो लिखिएगा। शिमला अलग है, शिलांग अलग है। दोनों अलग-अलग पहाड़ हैं। लेकिन, अगर नहीं देखा है तो मैदान में बैठे हुए उस पात्र का चित्रण करेंगे तो सामान्य सा होगा। कहीं का नहीं है और सब जगह का है।

मो. हारून रशीद खान : आपका कहानी-संग्रह 'खाली घर', 'और वह एक' जिसमें ग्राम बोध और नगर बोध की अनुभूतियों का द्वंद्व, संघर्ष और टकराहट देखने को मिलता है जो बहुत प्रमाणिक होता है। आपकी हर कहानी कोई न कोई कसमसाता हुआ प्रश्न या ज्वलंत समस्याओं से उत्पन्न दर्द को छोड़ जाता है। आपकी क्या राय है?

रामदरश मिश्र : (ठठाकर हँसते हैं) आपने मेरी बात खुद कह दी। मैं आपका समर्थन करता हूँ। (पुनः हँसते हुए)।

मो. हारून रशीद खान : हम आपको सुनना चाहते हैं।

रामदरश मिश्र : अपने बारे में अपनी राय देना कठिन काम होता है। अपने बारे में अपनी राय दी जाए प्रमाणिक नहीं होती है। मेरी कहानियाँ, उपन्यास आपको जैसा लगा वास्तव में वही सही है। मैं तो अपने बारे में सही कहूँगा।

मो. हारून रशीद खान : हिंदी में ग्राम कथा बनाम नगर कथा का विवाद आरंभ से ही खड़ा हुआ था। सन 1957 में प्रयाग साहित्य सम्मेलन में शिवप्रसाद सिंह ने उचित समाधान के साथ विवाद को समाप्त कर दिया था। अब क्या ग्राम कथा बनाम नगर कथा का विवाद खत्म हो गया है या ग्रामीण अंचल पर लिखने वाले कथाकार चुक गए?

रामदरश मिश्र : ऐसी कोई चर्चा नहीं होती है। कोई नगर कथा, ग्राम कथा जैसा विवाद अब नहीं है। दरअसल, गाँव पर बहुत कम लिखा गया था। जब गाँव पर लिखा जाने लगा तो लगा कि गाँव पर लिखा गया एक साहित्य भी बन रहा है तो ग्राम कथा जैसी कोई चीज सामने आ गई। जो गाँव पर लिखा जा रहा है वही अच्छा है तो नगर पर लिखने वाले लोगों को बुरा लगना ही था। पर नगर पर जो कथा आ रही है, उसके लेखक नगर कथा की बात करने लगे, तो कोई टकराहट नहीं थी। दो अस्मिताओं की चर्चा हो रही थी। अब वह बात नहीं रही।

मो. हारून रशीद खान : दलित साहित्यकारों ने 'रंगभूमि' को जला करके विरोध किया। मुंशी जी से दलित साहित्यकारों को चिढ़ क्यों है?

रामदरश मिश्र : बेटा, ऐसा है मैं नगेंद्र जी के साथ कहीं जा रहा था। तो मैंने कहा, मुझे 'गोदान' से तो अच्छा लगता है 'रंगभूमि'। क्या कहा... क्या कहा... तुमने। मेरी भी यही राय है, लेकिन कहता नहीं हूँ। 'रंगभूमि' जो है 'गोदान' से ज्यादा बढ़िया है। बड़ा कैनवास है उसका, बहुत जटिल है। पूँजीवाद, समाजवाद सब कुछ है उसमें।

मो. हारून रशीद खान : प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु जैसा लिखना मुश्किल है।

रामदरश मिश्र : रेणु में 'मैला आँचल' के बाद दम नहीं रहा। 'परती परीकथा' में थोड़ा बहुत दम है। कहानियाँ उनकी अच्छी रही। कई बार ऐसा होता है कि एक चीज आ गई तो आ गई। मेरा उपन्यास है 'पानी के प्राचीर' 'जल टूटता हुआ' और चार-पाँच उपन्यास बड़े-बड़े हैं। बाकी छोटे हैं, लेकिन लोकप्रिय हैं। क्योंकि बड़े उपन्यास ही लोगों की जुबान पर आते हैं।

मो. हारून रशीद खान : गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था'...

रामदरश मिश्र : जाहिर है बड़ी कहानी है। उसके

बाद उनकी कोई कहानी अच्छी नहीं है। श्री लाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' के अलावा सब बेकार है। उनको कोई पूछता नहीं है, बस 'राग दरबारी'। द्विवेदी जी ने मेरे उपन्यास पर चिट्ठी लिखी थी। ये...ये...ये पात्र है, जो बड़े मूल्यवान हैं। ये न रहते तो उपन्यास अधकचरा रहता। उपन्यास में निगेटिव प्वाइंट होना चाहिए, पॉजिटिव भी। जिंदगी के मूल्य का आभास होना चाहिए। दो ही पात्र हों, चार पात्र हों। वह नायक बड़ा ही कमजोर है। मूल्य क्या है, नंगा है। चर्चा है खूब लेकिन निगेटिव चीज पसंद नहीं आती। पढ़ने के बाद आपको थोड़ी राहत मिले, लगे हों, ये दुनिया है जो जीने लायक भी है। सब कुछ खत्म नहीं हो गया और सही भी है।

अखबारों में आता है इतना यह हुआ, वह हुआ। तो ठीक है, इतने बड़े समाज में होते हैं उचक्के, बदमाश, लुटेरे। अभी यह कि अखबार निगेटिव देखता है और साहित्य पॉजिटिव है। साहित्य गली-गुर्चों में जाता है। आम आदमी का जो मूल्य है, वहाँ तो सब कुछ यंत्र से आता है। जो कुछ घटा, दे दिया। बाकी तो आदमी के मूल्यों की पहचान के लिए खुला दिमाग चाहिए। छोटी-छोटी बातें बड़े महत्व की होती हैं। हम लोग उसी को याद करते हैं अपने लेखन में। अगर आम आदमी ने थोड़ा-सा कुछ एक मानवीय रूप दिखा दिया तो चाहे डायरी में, उपन्यास में आ जाएगा। दूध यहाँ नहीं मिलता है तो एक ने कहा वहाँ मिलता है पड़ोस में। तो पत्नी गई दूध लेने तो पास में एक दवा की दुकान है, मेरे परिचित हैं। पूछता है आंटी जी कहाँ जा रही हैं, लाइए हम लाते हैं। सोचा जान न पहचान ये पैसा ले जाएगा। तो उन्होंने मान लिया। वह गया दूध ले आया। ये मेरे

लिए मूल्य हैं, ये छोटी-छोटी बात नहीं बल्कि मूल्य बन जाते हैं। तमाम ऐसे छोटे-छोटे संदर्भ हैं जिनको कथाकार याद करता है। याद रखना भी चाहिए। बड़े-बड़े मूल्यों को आप खोजेंगे तो नहीं मिलेंगे। मानवीय मूल्य ऐसे मिल जाएंगे आस-पास।

लखनऊ गए थे पत्नी थी, बेटी थी। भूल-भूलैया में हम लोग नीचे बैठ गए। छत के ऊपर बेटी गई। एक परिवार आया। उस परिवार में एक छोटी-सी लड़की थी। परिवार के लोगों ने कहा यहाँ आओ तो लड़की कहती है नहीं, अंकल जी के पास बैठेंगे। न जान, न पहचान। इतना प्यार आया उसके लिए। केशव जी कहते थे वैज्ञानिकों को कान खोलकर चलना चाहिए, कौन आदमी कैसे बोल रहा है।

मो. हारून रशीद खान : आज की नई पीढ़ी... **रामदरश मिश्र :** आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की भतीजी हैं, अल्पना मिश्र। क्या लिखती हैं, मैं पढ़ नहीं पाता हूँ। अल्पना मिश्र में कथा का बहाव नहीं है। बहुत घुमा-फिरा करके, कुछ ठहरकर के ऐसा ही है उनकी कहानियों में। एक लड़का गोरखपुर का है नाम भूल रहा हूँ। उसकी भी कहानियाँ अजीब हैं। कई कहानीकार जो चर्चित हुए, कहानियाँ पठनीय ही नहीं हैं, जैसे उदय प्रकाश। पहले कम से कम कहानीकारों से सीखना चाहिए। आप जो भी बात कहिए पहले कहानी में कहानीपन तो हो। बहाव हो, धारा बहती रहे। कहानी में बहुत कुछ आती है। बिखर गया जोड़ दिए। अच्छा भी है बुरा भी है। कुल मिलाकर के जो कहानी का परिदृश्य है बहुत असहज नहीं है। जैसे कमलेश्वर ने नई कहानी शुरू की। फिर सचेतन कहानी आई। दलितों ने कहानी आंदोलन खड़ा किया, लेकिन अब वह सब दौर खत्म हो गया।

संपर्क : मोहल्ला- खजुरियाँ, पोस्ट-पीरनगर, जनपद-गाजीपुर (उ.प्र.)-233001,
मो. : 9889453491, Email : mdharoon.khangzp786@gmail.com

1. ग्लोबल वार्मिंग

स्नेह के जिस महासागर में
वर्षों नहाए
आज वे ग्लेशियर बन गए हैं
कैसी ग्लोबल वार्मिंग है यह
कि कलेजे पत्थर बन गए हैं

2. यात्रा

छोटी हो या बड़ी-
हर यात्रा के साथ
जुड़ी होती हैं कितनी तैयारियाँ...
और,
महाप्रस्थान
यों अचानक ही हो जाता है
सब तैयारियों के बीच
सब कुछ धरा का धरा रह जाता है।

3. शाम जिंदगी की

किसी डे-केयर सेंटर में,
ठहाके लगाते बुझे-बुझियाँ।
या कि अपनों से दूर...
गम को हँसी में भुलाते बुझे-बुझियाँ।
पोपले मुँह, बेकाबू हिलती गरदनें
रेशमी सलवटों भरे चेहरों में
खट्टी- मीठी, नौनी-कसैली यादों में
उतराते- लहराते बुझे-बुझियाँ।
जेनी की गुड़िया, जोएल की बाइक
एला की मुस्कान, नोएल की काइट
गीली कोरें, काले चश्मे, ठंडी चाय में
अपनी उदासी सुझकते बुझे-बुझियाँ।
अपने की चाहत में, पत्ते की आहट पर
पथराती आँखों से, सुबह से साँझ तक
खिड़की पर पोर्ट्रेट से जड़े
जिंदगी की शाम काटते ये बुझे-बुझियाँ।

●●●

परिचय :

जन्म- भोपाल 12 सितंबर 1969 (पंजीकृत)

शिक्षा- विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से स्नातक, पुणे विद्यापीठ से अंग्रेजी व हिंदी में प्रथम श्रेणी से स्नातकोत्तर एवं हिंदी में पी.एचडी की उपाधि। इंग्लैंड से क्वालिफाईड टीचर स्टेटस एवं CELTA 2002 से इंग्लैंड में निवास। छात्र जीवन में काव्य लेखन की शुरुआत। 1987 में साप्ताहिक हिंदुस्तान में पहली कविता 'खामोश जिंदगी' प्रकाशन से अब तक विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं जैसे साहित्य अमृत, अक्षरा, वागर्थ, हरिगंधा, गर्भनाल आदि और साहित्यिक-समीक्षात्मक पुस्तकों, वेब पत्र-पत्रिकाओं में विविध विषयों पर कहानियाँ, कविताएँ, संस्मरण, समीक्षाएँ, लेख, एवं शोध-पत्र प्रकाशित।

लेखन एवं प्रकाशन :

1. 'नौवे दशक का हिंदी निबंध साहित्य एक विवेचन' शोधप्रबंध- 2002,
2. 'मौन मुखर जब' (काव्य संग्रह) 2015
3. कहानी संग्रह - कई रंग, दो पंख, एक तितली प्रकाशनाधीन।

संपादन :

1. 'मनकेमनके' रामनारायणसिरोठिया, (काव्य संग्रह) 2016
2. 'परि भारत में किसान न बनइयो' (निबंध संकलन) डॉ. केशव प्रथमवीर 2018

सहलेखन - डैड, पॉप्स और मैं (लघु उपन्यास-संकल्पना -संपादन उषा वर्मा 2016,) प्रसारण-यू.के. में स्थानीय टी.वी. चैनल पर काव्य पाठ, बी.बी.सी. वैस्ट मिडलैंड्स रेडियो, आकाशवाणी पुणे से काव्य-पाठ एवं वार्ताएँ प्रसारित।

विशिष्ट उपलब्धियां-

- छात्र जीवन से ही अकादमिक स्पर्धाओं में अनेक पुरस्कार, भारत एवं इंग्लैंड में अनेक राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में प्रपत्र वाचन, सहभाग और सम्मान।
- विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा आयोजित अंतर्राष्ट्रीय कहानी प्रतियोगिता 2019 में भौगोलिक क्षेत्र यूरोप-यू.के. में प्रथम स्थान
- पब्लिक रिलेशंस सोसायटी भोपाल द्वारा साहित्य सम्मान 2019
- इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र द्वारा आयोजित डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र पर आधारित संस्कृति शृंखला-7 फरवरी 2018 में कोलकाता में

वक्ता के रूप में सम्मानित।

- विश्व हिंदी साहित्य परिषद, दिल्ली द्वारा 'सृजन भारती' सम्मान 2016
- भारतीय उच्चायोग लंदन द्वारा डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी अनुदान-सम्मान 2014
- यू.के. क्षेत्रीय हिंदी सम्मेलन 2011, में हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिये भारत सरकार द्वारा विशिष्ट सम्मान।
- भारत सरकार एवं गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक संस्था, बर्मिंघम द्वारा आयोजित यू.के. क्षेत्रीय हिंदी सम्मेलन 2011 की संयोजक सचिव।
- 22वें अंतरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन में प्रपत्र वाचन 2005 में गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक संस्था, बर्मिंघम द्वारा आयोजित अंतरराष्ट्रीय बहुभाषीय सम्मेलन की संयोजक सचिव।
- इंटीग्रेटेड काउंसिल फॉर सोश्यो-इकनॉमिक प्रोग्रेस दिल्ली द्वारा 'महिला राष्ट्रीय ज्योति पुरस्कार' 2002
- 1997 से सतत भारत एवं ब्रिटेन में विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों और कवि-सम्मेलनों का संयोजन-संचालन
- 2004 से गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक संस्था की सदस्य।
- संप्रति- इंग्लैंड में प्रयोजनमूलक अंग्रेजी की प्राध्यापिका एवं हिंदी में स्वतंत्र लेखन
- केंब्रिज विश्वविद्यालय के अंतरराष्ट्रीय परीक्षा विभाग में परीक्षक।

संपर्क : 35 Brookhouse Road, Walsall England, U.K. WS5 3AE, 0044-7886777418

विभूति बाबू का घाटशिला

विनोद साव

जब हम किसी कस्बाई स्टेशन की प्लेटफार्म पर उतरकर चलते हैं तब लगता नहीं है कि हम घर से सैकड़ों कोसों दूर किसी दूसरे प्रांत में कहीं उतर आए हैं। किसी किस्म की कोई हड़बड़ी नहीं होती और हम मद्धिम चाप लिए हुए चुपचाप चलते रहते हैं अनजाने होकर भी अपनापा लिए हुए। लंबी दूरी तय कर लेने के बाद ट्रेन से भी अपनापा सा हो जाता है। उसे भी बिदा करते समय हमारे भीतर कुछ-कुछ होता है। लगता है उसमें बैठी बिरादरी हमसे छूटती चली जा रही है। छोटे स्टेशनों पर ट्रेनें बेमुश्किल एक मिनट ही रुक पाती हैं पर जाते समय हमारे भीतर टनों वजनों का कोई भार छोड़ जाती हैं। ऐसे ही उद्वेलन के साथ अपने ट्राली बैग को खींचता मैं चला जा रहा था, पता नहीं चला कि कब सिर झुकाए हुए प्लेटफार्म के क्रमशः अँधेरे होते हिस्से में आ गया था, जहां वह खत्म हो गया था "आप शायद बाहर निकलना चाहते हैं। सीढ़ी आपके पीछे की ओर है।" एक आवाज आई तब दिशा बोध हुआ था।

मोबाइल पर रिंग टोन था तब नाम उभर आया मंतोष मंडल का, जिसे मैंने आज शाम को ही 'सेव' किया था। सीढ़ी से उतरकर खड़ा था तब एक नौजवान ने आकर पैर छुए थे। उसने एक थैले को लपक कर ले लिया था और मैं ट्राली बैग खींचते हुए उसके पीछे चलता बना था। 'होटल पास ही है सर' यह कहते हुए उसने अपनी बाइक में मुझे ले लिया था। स्टेशन के सामने बाइक जहाँ खड़ी थी वहाँ इंदिरा-राजीव की एक साथ मूर्ति थी - नीचे शिला पर लोकार्पण करने वाले तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री अजीत पाँजा का नाम लिखा था।

बाइक पर पीछे बैठने से पहले मैंने एक नज़र स्टेशन भवन की ओर देखा - लिखा था 'घाटशिला'। किसी हिल स्टेशन के रेलवे स्टेशन की तरह खूबसूरत और प्यारा दिख रहा था। हिल स्टेशनों को अगर छोड़ दें तो यह पहली बार है जब किसी कस्बे को मैंने अपना 'डेस्टिनेशन' चुना था। अभी कुछ देर पहले ही यहाँ उतरा था जमशेदपुर-खड़कपुर लोकल से। कल शाम जमशेदपुर में 'व्यंग्य साहित्य' पर अपने धुआंधार व्याख्यान के कारण आज जमशेदपुर के सारे अखबारों में छाया हुआ था। बोलते हुए कई प्रोफ़ाइल चित्र भी छपे थे। इस उत्तेजना में जमशेदपुर के एक 'ब्यूरो चीफ' सत्यम ने मुझे दलमा वन्य अभयारण्य घुमाने की पेशकश की थी और दिन भर 'दलमा' घुमाने का काम किया था। दलमा जमशेदपुर से पैंतालीस किलोमीटर दूर एक राष्ट्रीय अभयारण्य है। यह विशेषकर हाथी संरक्षण की परियोजना में लगा है। शाम तक

जंगलों, आदिवासी गांवों और हाथियों को देखता रहा था। अचानक मैंने सत्यम से पूछ लिया था कि 'घाटशिला कितनी दूर है?'

वे चौंक उठे और बोले थे 'पास ही है, नक्सली क्षेत्र है? पर अभी थोड़े नियंत्रण में हैं। अगर आप जाना चाहें तो वहां के अपने पत्रकार मंतोष मंडल को बोल देता हूँ। वे घुमा देंगे।' और यहाँ घाटशिला में मैं मंतोष मंडल की बाइक के पीछे अपनी ट्राली बैग लिए बैठा था। होटल मत्स्य गंधा था यानी मछली की बिसरइन गंध थी। मंतोष ने बताया कि 'यह घाटशिला है तो झारखण्ड में पर बंगाली बहुल है' और होटल की हवा यह प्रमाणित कर रही थी।

'यहाँ बंगाली आते भी बहुत हैं कलकत्ता से मौसम चेंज के लिए।' रिसेप्शनिस्ट ने कमरे की चाबी देते हुए कहा था। होटल कलकत्ता में चलने वाले पुराने मेस की तरह का था। इसका ज्यादा हिस्सा लकड़ियों से बना था। जिसका जिक्र भी बिभूति बाबू की बांग्ला कथाओं में देखने में आता है। तब कलकत्ता में नौकरी चाकरी करने वाले और आगे पढ़ाई जारी रखने वाले लोग इन मेसों में रहा करते थे। यहाँ पारस्परिकता और सामूहिकता की भावना पनपती थी।

जब जब भी बंगाल या कलकत्ता जाना हुआ तब जमशेदपुर के बाद यह स्टेशन पड़ा करता था 'घाटशिला'। अमूमन दुर्ग से हावड़ा जाने वाली ट्रेनें घाटशिला में नहीं रुकतीं सिवाय कुर्ला-हावड़ा एक्सप्रेस के। मुझे कल लौटना भी है इसी ट्रेन से। यहाँ से गुजरते समय घाटशिला का यह नाम इतना सुन्दर और स्पर्शीय लगता कि मन सोचता कि क्या यह फूलों की घाटी वाला कोई मनोरम देश है। जहाँ किसम किसम के फूल पुष्पित पल्लवित होते होंगे और जिनकी सुरभि लिए कोई मंद बयार बहती होगी इसकी स्वर्ण रेखा नदी के घाटों और शिलाओं के बीच।

अपने नाम से यह मेरे लिए एक कल्पित प्रदेश बना रहा, शायद औरों के लिए भी। क्या विभूति बाबू इसीलिए यहाँ आ बसे थे ?

स्टेशन के ठीक सामने ही घाटशिला का मेनरोड है और यही उसका बड़ा बाजार। बांग्ला प्रभाव वाले शहरों का बड़ा बाजार कुछ इस तरह से गुलजार होता है जहाँ निम्न-मध्यम वर्गीय आकांक्षाओं का माया बाजार दिखाई देता है। कम मोलभाव वाला चकाचक और सस्ता बाजार। कभी बर्दवान का बाजार देखा था वह भी मनमोहक लगा था।

कस्बे की शाम थोड़ी अलसाई हुई सी मगर अपनी अपनी सी होती है। यहाँ महानगरों जैसी भीषण चकाचौंध से भरी शोरयुक्त शामें नहीं होतीं। हर शाम लोग किसी एक मंदिर में मिल लेते हैं एक दूसरे का हालचाल पूछ लेते हैं. सामूहिक स्वर में आरती गा ली, नारियल पेड़े का प्रसाद खा लिया, मूर्ति के सामने शीश नवाकर कुछ मांग लिया। पुजारी से चरणामृत लेकर अपने सिर में छिड़क लिया और आस्था से कृत-कृत होकर चल दिए। न कोई उन्माद न नारे बाजी। फिर भी आने वाले शुचिता और पवित्रता से भर गए।

शाम को होने वाली आरती संपन्न हो गई थी 'माता रंकिनी' की। पुजारी महाराज ने बताया था कि 'माता रंकिनी माँ काली का रूप है'। मेरे सामने एक अनूठे भवन विन्यास का तीन सौ पचास वर्षों पुराना मंदिर खड़ा है। इस आदिवासी अंचल में ही पूजा जाने वाली माता रंकिनी के घाटशिला के आसपास चार और मंदिर हैं। घाटशिला झारखण्ड के पूर्वी सिंहभूम जिले में है। संभवतः मेरा गाइड मंतोष मंडल भी एक बांग्ला आदिवासी है। 'संतोष' की तरह ध्वनि साम्य वाला 'मंतोष' नाम है उसका। मैं उससे 'मंतोष' का अर्थ जानना चाहता हूँ पर वह इसके अर्थ से

अनभिज्ञ है। संभवतः 'मंतोष' का अर्थ भी वही है जो 'संतोष' का है अर्थात् 'मन का तोष'। मंतोष आदिवासियों की तरह शर्मीला और विनम्र है। मात्र चौबीस वर्षीय यह युवा भले ही अपने नाम के प्रति नहीं पर अपने समय के प्रति सतर्क है और इसीलिए पत्रकार है। आहिस्ते से बताता है 'माँ हाउस वाइफ है और पिता दर्जी।'

किसी होटल या गेस्ट हाउस में रुककर मुझे वहां कमरे के भीतर खाना-पीना नहीं सुहाता। सुबह की चाय को किसी चौराहे के ठेले या गुमती में पीना अच्छा लगता है। चाय पीते समय दिखा कि सामने तिराहे पर एक मूर्ति है। अमूमन महापुरुषों की मूर्तियों को हम किसी ऊंचे स्तंभ पर देखते हैं जहाँ उनकी दिव्यता और ऊँचाई पर होती लगती है, पर यहाँ स्तंभ पर लगी मूर्ति की जमीन से ही कुल कद पांच फुट की रही होगी। इन स्थितियों में कोई महापुरुष राहगीरों को अपना सम-वयस्क भी लग सकता है। सड़क से लगी और इतनी कम ऊँचाई पर होने के कारण मूर्ति धूल धक्कड़ से भरी हुई थी। नीचे बांग्ला भाषा में लिखा हुआ था 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस'।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दौर में दो सेनानी नेहरू और सुभाष लगभग एक समान लगा करते थे। दोनों ही नुकीली टोपी पहने हुए बड़े सुदर्शन व्यक्तित्व से संपन्न थे। दोनों ही युवकोचित ओज और औद्धत्य से भरे हुए थे। दोनों ही बड़े देशप्रेमी। मौके पर दोनों के गाँधी से भले मतभेद हुए पर नेहरू और सुभाष की मित्रता बनी रही। नेहरू की तरह सुभाष भी हिंदुस्तानी जुबान को पूरी दबंगई से बोला करते थे। बाद में उनकी इसी हिन्दुस्तानी जुबान ने आजाद हिंद फौज को खड़ा किया था। तब हिन्दुस्तान का जन मानस शीर्ष नेतृत्व के लिए इन दोनों महानायकों की ओर ताका करता था। राजनैतिक पेचीदगियों को अगर छोड़ दें तो उस

समय देश का एक दूसरा वर्ग नेहरू की तरह सुभाष बोस को भी स्वतंत्र भारत के संभावित प्रधान मंत्री के रूप में देखा करता था और यह विश्वास था कि सुभाष बाबू अगर जी गए होते तो आज इस देश की हालत कुछ और होती। यह सही है कि नेहरू को विश्व इतिहास और राजनीति की गहरी समझ थी पर अपने चिंतन और कर्तव्यों को लेकर सुभाषचन्द्र बोस ज्यादा गंभीर और प्रतिबद्ध थे।

मंतोष कहता है कि 'घाटशिला छोटी जगह है हम इसे बाइक पर भी घूम सकते हैं।' मुझे लगा कि साइकिल या मोटर साइकिल में हम किसी जगह की स्थानीयता को और अच्छे से पकड़ सकते हैं बनिस्बत ऑटो या टैक्सी के! फिर बाइक में शहर घूमने का एक अच्छा मौका एक बार मैंने पुणे में आजमा लिया था जो कारगर साबित हुआ था। एक फ्लाइओवर दिखा और उस पर मंतोष ने अपनी बाइक चढ़ा दी थी। यह फ्लाइओवर घाटशिला के एक ऐसे सेनानी के नाम समर्पित है जिसने कुछ बरस पहले कारगिल युद्ध में अपनी जान गवाई थी। यह अपनी स्थानीयता के प्रति प्रेम का एक बड़ा प्रमाण है।

बंगालियों के बारे में एक उड़िया प्रशासनिक अधिकारी कहते हैं कि 'बंगाली चाहे बंगाल में रहे या बंगाल से बाहर, वे जहाँ रहते हैं उसकी स्थानीयता का अपने हिसाब से 'कन्वरसन' कर लेते हैं। जैसे ईसाई मिशनरीयां 'कन्वर्सन' कर लेती हैं वैसे ही बांग्ला समुदाय 'बंगाली कन्वर्सन' कर लेता है। वे अपने रंग में रंग लेते हैं। अपनी भाषा और खान पान दूसरों को सिखा लेते हैं। वे जैसा देस वैसा भेस में रम जाते हैं नहीं तो दूसरों को रमा लेते हैं। संभवतः वे देश में सबसे ज्यादा अंतर-जातीय विवाह कर लेने वाले भद्र जन हैं।'

पहले इस जगह का नाम कुछ और था बाद में 'घाटशिला' हुआ। यह झारखण्ड के पूर्वी

सिंहभूम जिले में बंगाल और उड़ीसा के सिवान पर बसा हुआ है, पर रंग चढ़ा न बिहार का ना उड़ीसा का। रंग चढ़ा तो बंगाल का। यहाँ कितनी ही निर्देश पट्टिकाएं बांग्ला में देखी जा सकती हैं। स्टेशन के बाहर तीन भोजनालय हैं - तीनों में भात-माछ की भरमार है। टट्टे से बनी गुमठियों में बंगालियों का प्रिय 'सिंघाड़ा' यानी छोटा समोसा ही मिलता है। फिर मैं जिस होटल में रुका हूँ वह मत्स्यगन्धा तो है ही।

स्टेशन के पास वाले भोजनालय में मैं और मंतोष खाना खाते हैं। आने वाले हर ग्राहक के सामने सीधे दाल भात और आलू भंडे की सब्जी लगा दी जाती है और नॉनवेज से सजी प्लेटों को एक परात में लाकर दिखा दिया जाता है - जिसको झींगा, चिकन, मीट जो लेना हो उठा ले फकत तीस रुपये प्लेट में। सस्ते में खाकर ग्राहक निकल सकता है। झींगा को परोसने वाला उसे 'चिंगरी' कहता है। हमारे छत्तीसगढ़ में भी इस मछली को चिंगरी कहते हैं।

मिठाई प्रेमी बंगालियों के लिए यहाँ मिठाई के नाम से ही एक दुकान है : 'गणेश कलाकंद'। यहाँ केवल कलाकंद ही बिकता है और गरमागरम कलाकंद निकलता है जो कत्थे रंग का है। यह खोवे की है छेने की नहीं और इसे बेचने वाला बंगाली नहीं बिहारी है। बांग्ला जनों में मिठाई को 'नग' हिसाब में लेकर खाने का चलन है। यहाँ कलाकंद का दाम है प्रति नग आठ रुपए। मिठाई वाले ने हमारे सामने ही एक थाली को उलटाकर उस पर कलाकंद के लोंदे को रखकर, बेलन में दबाकर उसके आकार को मोटी रोटी की तरह बनाया फिर उसे हलवा की तरह काटा और हमें खाने के लिए दो नग दे दिए। अब तक सफ़ेद कलाकंद खाया था कत्थे रंग का नहीं। मैं खाते हुए गणेश कलाकंद के मालिक से कहता हूँ 'यह मिल्क केक की तरह है।' वे कहते हैं 'पर यहाँ

इसे कलाकंद ही कहते हैं।'

हम उस शिला पर जा खड़े होते हैं जहाँ कुछ मानव कद काठी जैसी विशाल आकृतियों वाली पांच रेखाएं दिखाई देती हैं। इस जगह का नाम पांच पांडव है। मान्यता है कि ये विशाल आकृतियाँ हजारों वर्षों पूर्व जन्मे उन पांच पाण्डव भाइयों की छाप है जो महाभारत काल में वनवास पर यहाँ आये हुए थे। कुछ इस तरह के रेखाचित्र भोपाल के पास भीमबैठका में भी दिखाई देते हैं जिनमें कुछ रंगीन भी हैं और उन्हें भी हजारों बरस पुराना बताया जाता है।

सामने हिन्दुस्तान कॉपर लिमिटेड का कारखाना और एक बड़ा जलाशय दिखाई देता है। घाटशिला झारखंड में जमशेदपुर के पास स्थित एक छोटा शहर है जो अपने यूरेनियम, ताँबा और अन्य खनिजों की खान के लिये प्रसिद्ध है। मुझे अपने भिलाई इस्पात संयंत्र की खदान दल्ली राजहरा की याद आती है जहाँ लौह अयस्क का भंडार है और जिसके कारण भिलाई देश के सबसे बड़े इस्पात कारखाने के रूप में जाना जाता है और जिसके कार्मिक-अधिकारी होने का मुझे गर्व है।

इस कारखाने के पास से ही स्वर्ण रेखा नदी गुजरती है। हम बाइक चलाते हुए नदी में बने एनीकेट के पास चले जाते हैं जहाँ मछलियाँ पकड़ने के लिए बांसों की खपच्चियाँ बनाई गई हैं। इन खपच्चियों को लगाने वाले बीच बीच में देख आते हैं कि उनमें कितनी मछलियाँ फंसी हैं। स्वर्ण रेखा नदी रेतों से अधिक पथरीले मार्ग पर बही है। इस कारण जब नदी भरी रहती होगी तब इसका बहाव भी तेज होता होगा।

नदी पर बने बड़ी पुल से होकर जब हम गुजरते हैं तब पुल के नीचे नदी का एक हिस्सा स्वर्ण यानी सोने के समान दमक रहा होता है। मंतोष कहता है कि 'यहाँ पर नदी की रेत, मिट्टी

और पानी सब पीले रंग के होते हैं और लोग यहाँ पर स्वर्ण कण तलाशा करते हैं।' नीचे गहराई पर छोटी छोटी पुतलियों के समान जो लोग दिख रहे हैं वे महिलाएं हैं जो स्वर्ण कण पाने की आस में आया करती हैं और नदी की पीली मिट्टियों को ले जाया करती हैं फिर उन्हें चलनी से छानकर कुछ स्वर्ण कण निकाला करती हैं और बाज़ार में मोल भाव किया करती हैं। यह बड़ा ही श्रम-साध्य कार्य है जिसके लिए बड़े धैर्य की जरूरत होती है। उन सोना उपजाती मजदूर स्त्रियों की दशा देखकर यह भान हो जाता है कि बड़ी मेहनत के बाद ही उनकी थोड़ी कमाई हो पाती होगी। यह किसी मृगतृष्णा के समान है। संभवतः नदी के और भी हिस्सों में इस तरह की स्वर्ण युक्त मिट्टियां निकला करती होंगी इसलिए इस नदी का नाम 'स्वर्ण रेखा' है। मैं दूर तक जाती दृष्टि से नदी को देखता हूँ उसमें वैसी ही इठलाहट है जैसे स्वर्ण आभूषणों से लदी किसी सुन्दरी में हो।

क्या प्रकृति की ऐसी ही लीलाओं, स्त्री की ऐसी मृगतृष्णाओं, कला और संस्कृति से संपन्न होने के बाद भी संथाल आदिवासियों की विपन्नताओं की गाथा गाने के लिए बांग्ला लेखक बिभूति बाबू यहाँ रह गए थे? बुरुडीह बाँध के रास्ते पड़ने वाले आदिवासी गांवों की झोपड़ियाँ कितनी कलात्मक हैं ! कितने सुन्दर रंग-रोगन से भरी हैं! खपरैलों की एक एक पंक्ति कितनी अनुशासन बद्ध है! गुद्गुदुदी फूसों की छप्पर रजत तारों की तरह चमकती हैं। दीवारों की चिकनाहट ऐसी जैसे गणेश कलाकन्द हों। यहाँ गणेश भुइयों की गुमठी है. उसकी गुमठी भी ऐसी जैसे माँडर्न आर्ट का कोई अमूर्त चित्र हो। जंगल में कहीं भी मिल जाने वाली सूखी लकड़ियों से गूँथ ली गई हैं यह गुमठी। जिसकी झाँई सी सुंदरता आँखों को सुकून देती हैं और सुकून देती

है उन राहगीरों को जो बारह किलोमीटर दूर बुरुडीह बाँध को देखने आते जाते हैं और यहां थोड़ी देर थिराकर भजिया खा लेते हैं। शक्कर गुड नहीं है तो क्या हुआ, काली नमक और अदरक डली चाय पी लेते हैं। इन सबसे भी ज्यादा मन हर लेती है गणेश और निर्मला भुइयों की निर्मल हँसी। एक ऐसी हँसी जो उनकी सूखी लकड़ियों से बनी झाँईदार गुमठी से छन कर आती होगी!

हम लौटकर शहर आते हैं उस छोटे से घर के सामने जिसकी दीवार पर एक शिलान्यास का काला पत्थर जड़ा हुआ है. उस पर सफ़ेद अक्षरों में लिखा है 'बांग्ला के महान साहित्यकार बिभूतिभूषण बन्दोपाध्याय का निवास'। झारखण्ड सरकार की ओर से जीर्णोद्धार किये गए इस घर के प्रवेशद्वार से हम अंदर होते हैं। घर छोटा है पर आँगन बड़ा है। आँगन में ही स्वर्णिम रंगों वाली उनकी एक मूर्ति स्थापित की गई है। घर के अहाते में एक सहायक बैठा है एक रजिस्टर लेकर। वह हमें नमस्ते करता है। रजिस्टर में आगंतुकों के नाम पते नोट करता है। मंतोष से वह आत्मीयता से मिलता है। मंतोष जहाँ भी जाता उसे सब जानते हैं। यह एक पत्रकार के प्रति स्थानीयजनों का जुड़ाव है।

इस घर में तीन कमरे हैं। यहाँ सहायक हमें एक एक कमरे में ले जाता है. पहला कमरा अहातानुमा है जिसमें मनभावन रंगों से लोकचित्र वैसे ही उकेरे गए हैं जैसे 1930 में बिभूति बाबू के समय में चलन रहा होगा। दूसरे कमरे में बिभूति बाबू का एक बड़ा रंगीन चित्र है और कमरे की दीवार में बनी अलमारियों में उनकी किताबें रखी हुई हैं. तीसरे कमरे में उनके वस्त्र व जूते चप्पल, चश्मे व कुछ अन्य पोशाकें हैं. यहाँ एक श्वेत श्याम चित्र है जिसके सामने मंतोष ने मेरा चित्र खींचा। चित्र में बिभूति बाबू

का बड़ा सिर है, उनके सिर पर घने बाल हैं। नाक-नक्श बड़े सुन्दर हैं। आँखें बड़ी हैं। सहायक हमें बांग्लानुमा हिंदी में उन घटनाक्रमों को बताता है जो बिभूति बाबू के समय में घटे रहे होंगे। सहायक कहता है कि 'बिभूति बाबू 1930 से 1950 तक घाटशिला में रहे' एक बार आए तब अपनी अंतिम साँस तक घाटशिला के होकर रह गए थे। यहाँ वे बंगाल के चौबीस परगना जिले से आये थे। उनकी पत्नी गौरी देवी का ब्याह के एक साल बाद हैजा से मृत्यु हो गई थी। तब बियालीस बरस की उम्र में दूसरा ब्याह रचाया था रमा चट्टोपाध्याय से। उनका एक बेटा हुआ तारादास नाम का।' सहायक आँगन में लगे आम के पेड़ की ओर इशारा करता है 'वह बिभूति बाबू का लगाया आम का पेड़ है और उसके नीचे बैठकर भी वे लिखा करते थे।' फिर हमसे कहता है कि 'आप लोग यहाँ से जाते समय 'फुलडुंगरी' जरूर जाइये क्योंकि उस टेकरी पर बैठकर बिभूति बाबू रोज लिखा करते थे और अँधेरा होते ही इस घर में आ जाया करते थे।'।

मैं स्मरण करता हूँ 'पाथेर पांचाली' जैसी अमर कृति के उस लेखक को जिस पर महान फिल्म निर्देशक सत्यजीत रॉय ने फिल्म बनाई थी। सत्यजीत रॉय केवल बड़े फिल्म निर्देशक ही नहीं थे बल्कि एक अच्छे कथाकार भी थे। बंगाल में उन्हें किशोरों का कथाकार भी माना जाता है। सत्यजीत रॉय कहते हैं कि 'बिभूति बाबू के संवाद ही चरित्र को खड़ा कर देते थे। वे चित्रण करते समय पात्रों के धरे स्वांग या पोशाकों का जिक्र लगभग नहीं करते थे। उनके पात्रों के द्वारा कहे गए संवादों से ही उनके स्वांग या लिबास अपने आप उभरते चले जाते थे। यह उनकी एक अलग व अनूठी विशेषता थी।' पाथेर पांचाली उनका आत्मकथात्मक उपन्यास था। शरतचन्द्र की तरह

बिभूति बाबू भी अत्यंत लोकप्रिय लेखक थे और इसीलिए उनकी कृतियों पर भी बांग्ला में अधिक फिल्में बनीं। इनमें फिल्म 'अपूर संसार' को भी बड़ी प्रसिद्धि मिली थी।

यहाँ उपस्थित सहायक भाव विभोर होकर बिभूति बाबू के योगदान पर बोले जा रहा है। मैं उससे कहता हूँ कि 'हिंदी में शक्ति सामंत द्वारा निर्देशित राजेश खन्ना और शर्मिला टैगोर की फिल्म 'अमरप्रेम' भी एक उम्दा फिल्म थी जो उनकी कहानी 'हिंजर कोचूर' पर बनी थी।' यह सुनकर सहायक किंचित आश्चर्य से भर उठा और बोल पड़ता है 'ये हमको मालूम नहीं था। पर आपसे बात करके बहुत अच्छा लगा भैया। आजकल इतनी बातें करता कौन है और सुनता कौन है ?

सहायक ने हमें फुलडुंगरी पहाड़ जाने को कहा था। यह ढालदार पहाड़ियों का घुमावदार घाटियों वाला वक्र है जहां हमारी बाइक हम दो सवारों को लेकर ऊपर खींचे जा रही थी। साल के वृक्षों की वीथिकाएँ हैं जो रोमान जगाते हैं। इस जगह में बिछड़े प्रेमी फिर आकर मिलते हैं। अपने टूटे प्रेम को फिर जोड़ते हैं। अपने खोये हुए प्रेमी को फिर से पाने की आस लिए प्रतीक्षा और प्रार्थना करते हैं। हम सबसे ऊपर पहुँच जाते हैं। यहाँ एक चबूतरा है जहाँ बिभूति भूषण बन्दोपाध्याय की लेखन पिपासु से भरी कलम दिन ढले तक निरंतर चलती रहती थी। यहाँ चल रही है पूर्व सिंहभूम की पुरवैया अपनी मंथर गति में बांग्ला के महान कथाकार बिभूति भूषण बन्दोपाध्याय की गाथा को गा रही है।

हम यहाँ से देख रहे हैं उस नगर को जिसका नाम लेते ही लोग कह उठते हैं कि 'आप घाटशिला जायेंगे तो बिभूति बाबू का घर देखकर जरूर आयेंगे।' हम फुलडुंगरी से नीचे देख रहे हैं बिभूति बाबू के घाटशिला को।

संपर्क : मुक्त नगर, दुर्ग छत्तीसगढ़ 491001, मो. 9009884014

पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों को मानवीयता के बिंदु पर मिलाती हुई कृति : वेणु की डायरी

उषा वर्मा

इस पूरे विश्व में हम कहीं रहे—किसी जाति, धर्म, वर्ण के नाम से 'क्या फर्क पड़ता है, सिवा इसके कि हम कितने मनुष्य बने रह पाए हैं'...! उपन्यास की ये अंतिम पंक्तियां ही लेखिका के चिंतन का आधार हैं। इस विशाल संसार में हम प्रवासियों के लिए यह वाक्य आकाशदीप की तरह रोशनी देता रहेगा।

सूर्यबाला जी का यह उपन्यास अपनी शान में कुछ नए प्रयोगों को जोड़ता है। आठ खंड और बहुत से छोटे-छोटे उप-शीर्षकों में बँटे होने से चार सौ पृष्ठों के इस उपन्यास को पढ़ने में सुविधा होती है। उपन्यास की निबंधना तथा शैली परंपरा से हट कर कुछ विशिष्ट है। उपन्यास का उद्देश्य भारतीय और अमेरिक नया पूर्व और पश्चिम के जीवन-दर्शन की व्याख्या करना है, विशेषकर प्रवासी जीवन, जहाँ भौतिक सुख ही सर्वोपरि है। इस उपन्यास के कथ्य में द्वंद्व महत्वपूर्ण है और जिस कौशल से लेखिका ने पात्रों के मानसिक द्वंद्व को पर्त दर पर्त खोला है, वह प्रशंसनीय है। प्रवास में प्रारंभिक जीवन के संघर्ष और विडंबनाओं की गाथा सुनाते हुए, यह उपन्यास मेरे जैसे प्रवासी पाठक को बार-बार अनुभव कराता है कि वह भी साथ-साथ चल रहा है। इस उपन्यास में अनुभवों की प्रामाणिकता इतनी गहन है कि वह यथार्थ बन जाती है और उपन्यास के पात्र तमाम अंतर्विरोधों को आत्मसात करते हुए हर तरह की विरोधी परिस्थितियों में उठ खड़े होते हैं। लेखिका की रचना-धर्मिता की पड़ताल का विषय सांस्कृतिक चेतना है। प्रवासी होना केंद्र से परिधि की ओर जाना होता है। परिधि में विस्तार है, केंद्र में संकुचन है। परिधि के किस बिन्दु पर हम रुकें यह हमारी प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। केंद्र से परिधि की इस यात्रा में क्या आत्मसात करें और क्या छोड़ें, यह संघर्ष आजीवन चलता रहता है। रोम में रह कर हम रोमंस की तरह रहें या जितना चाहें बड़े वृत्त से जुड़ते जाएं? किंतु मूल धारणा यही है, 'हम कितने मनुष्य बने रह पाए हैं...!'

वेणु तीन बहनों का अकेला भाई और मां-बाप का इकलौता लड़का है। परिवार के सभी सदस्यों को उससे बड़ी अपेक्षाएं हैं। वेणु कुशाग्र बुद्धि का है अतः वह सफलता की सीढ़ियां चढ़ता जा रहा है। अंत में जब वह विदेश जाने को तैयार है, पैसों की कमी के कारण वीजा मिलने में बाधा आती है, सब परेशान हैं, निराश हैं। ऐसे में माँ अपने आभूषण बाजूबंद, चंद्रहार और पाजेब

निकाल कर रख देती है, किंतु मामा और ताऊ की सहायता से काम हो जाता है। वेणु के अमेरिका जाने की तैयारी का विवरण अत्यंत ही मार्मिक तथा विस्तार में है। पैसों की कमी के कारण कभी फटे मोजे रफू करना, कभी पुरानी शर्ट को धो-धुला कर टूटे बटन ठीक कर रख लेते हैं। लेखिका ने वेणु के अमेरिका पहुंचने पर उसकी मानसिक दशा का हृदय-ग्राही चित्रण किया है, वह अप्रतिम है। वेणु के चेतन या अचेतन मन की अर्गला खोल कर उसकी भीतरी दुनिया के प्रांगण में साहस के साथ विचरण करती हैं। प्रवासी मन की उलझनें, ऊहापोह और कितना इधर, कितना उधर की यातनाओं का लेखा-जोखा तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं के आलोड़न का चित्रण प्रभावशाली है। प्रवासी जीवन का इतना विस्तृत विवरण दुर्लभ है।

वेणु के बारे में जब हम सोचते हैं तो पाते हैं कि उसमें अपने को सही रखने की इच्छा बहुत प्रबल है। वेणु भी मनोवैज्ञानिक धरातल पर अपने अंदर झांकता है, तर्क-वितर्क करता है क्योंकि वेणु कहता है कि दूसरों के काम या विचार पर उसका नियंत्रण नहीं है। वैसे भी निर्णय तो समय ही लेता है, हम सिर्फ सही बने रहने की कोशिश भर कर सकते हैं। आज अच्छे जीवन स्तर को पाने के लिए आर्थिक विकास ही एकमात्र उपाय है। अमेरिका जा कर विदेशी डिग्री से ऊंची नौकरी और ऊंची नौकरी से प्रचुर धन तो आता है, किंतु मन में संवेदनाएं सिमटती जाती हैं। धन का भी यही स्वभाव है कि इसे जितना बढ़ाते जाएं उतना ही इसका अभाव भी बढ़ता जाता है। और फिर वापस लौटना नहीं होता। परंतु मातृभूमि न लौटने पाने की टीस तो बनी ही रहती है। 'ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाही।'

मेधा, वेणु की पत्नी एक संपन्न और आधुनिक

परिवार से आती है। मेधा ने अपने घर में अभाव नहीं देखा है। 'मेधा के पास एक धुली-पुंछी ड्राई क्लीड आत्मा है।.....मूल्य भावनाओं का होता है।' किंतु मेधा बाहर क्या है वही देखती है, वह अंदर से बेखबर है। संभवतः उसके अंदर कुछ घटता ही नहीं। वेणु के संस्कार परिवार, भाई-बहन, मां-बाप पड़ोसी आदि के मूल्य एक आकार ले चुके हैं। वह लाख बार तर्क-वितर्क के बाद भी संस्कारों को छोड़ नहीं पाता। संस्कार वही मूल्य हैं जो हमारे अंदर आकार ले लेते हैं। मेधा को मानवीय रिश्तों की ऊष्मा-जनित संस्कार मिले ही नहीं। उसके सारे कार्य-कलाप भौतिक और यांत्रिक मूल्यों से संचालित होते हैं। मेधा के लिए विकास का अर्थ अधिक धन से है, मानवीय रिश्ते से नहीं। वे कोमल तंतु नहीं जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ते हैं। व्यक्ति जितना मशीनों से जुड़ता जाता है अंदर से उतना ही अकेला होता जाता है।

वेणु की डायरी के बारे में लिखते समय वसु को छोड़ा नहीं जा सकता। वेणु की सबसे छोटी बहन वसु है, जिसकी जीवन-दृष्टि अन्य बहनों से संभवतः अलग है। वह वाहक है, मूल्यों के असली मूल्य की। उसमें साहस है नए मूल्यों को स्थापित करने की। 'कबिरा खड़ा बज़ार में लिए लुकाठी हाथ।' संभवतः रोहित सर को संकट से उबरने के लिए वहां से कहीं चले जाना ही हितकर लगा। उनकी पत्नी भी समझने में समर्थ नहीं थी। फिर आए सुहास जोशी। उस रात क्या हुआ मालूम नहीं, लेकिन उनमें साहस तो था कि क्षमा मांग सके और प्रायश्चित भी कर सकें। वसु उनके इस पक्ष को समझ सकी। किंतु वसु के अंतर में जमे हिम-खंड को। प्रिया के अधूरे वाक्य ने "आंटी! क्या पापा भी एकसीडेंट में" आंसुओं के रूप में बहा दिया। और दोनों ईमानदार प्यार

के रिश्ते को विवाह का रूप दे सके। वसु बहुत बार टूटने के बाद भी अपने स्व को बचा सकी तो इसीलिए कि उसके अंदर धरातल पर एक निश्छल प्यार की धारा बह रही थी। वसु ने अपनी नैतिकता के माप दंड स्वयं बनाए और उसी पर साहस के साथ चलती रही।

उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक लेखिका ने माँ की गरिमा को बनाए रखा। मेधा के संदर्भ में यह कहकर कि उसने अपने घर में यह सब नहीं देखा है, जब हमारे साथ रहेगी तो सब सीख लेगी। मेधा को विलेन बनने से बचा लिया। कई मौके ऐसे आए हैं, जब मेधा ने बड़े तीखे कटाक्ष किए, जैसे उसने बताया कि यहां फ्रोन बहुत महंगे हैं, माँ कहती है, हाँ-हाँ तुम दो महीने पर कर लिया करना। मैं वसु को यहीं बुला लूंगी। और वह सारे विरोधों को अपने हक में कर लेती है। यहां तक कि पुत्र-प्रेम को भी वह एक दूसरे स्तर पर ले जाती है, कहती है, "वेणु मेरे पास एक में मरीचिप्स है, और मैं तुझे जहां चाहूं वहीं देख लेती हूं, और तू उसी रूप में मेरे पास आ जाता है।" लेखिका की चरित्र-निर्माण की क्षमता और संगठन उपन्यास को एक विशेष ऊंचाई तक ले जाते हैं।

उपन्यास के प्रारंभ में 'अपनी उधेड़बुन' नाम से लेखिका ने कुछ प्रश्न किए हैं जो पढ़ने वाले को कुछ सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। "क्या है सभ्यताओं और प्रगति के चरम विकास की नियति? और कहाँ पूरी होती है जीवन की तलाश?" मनुष्य की तरह प्रकृति का भी एक ब्लू प्रिंट होता होगा, जैसे मनुष्य कर्म करते हुए मर जाता है, प्रकृति भी अपने को विभिन्न रूप में बदलती हुई समाप्त हो जाती है। कहां पूरी होती है जीवन की असली तलाश? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर नहीं मिलता। हर विचारशील व्यक्ति के मन में समय-समय पर उठ कर ऐसे प्रश्न उद्बलित करते रहते हैं। वह अपने जीवन-संग्राम में बार-बार विराट से टकराता है, हर बार प्रश्न पूछता है, उपालंभ करता है, आत्म-विश्लेषण, करता है, शायद नकार भी देता है, किंतु तब नए नैतिक आग्रहों की खोज करता है। यह तलाश चलती रहती है पूरी कहां होती है। यह खोज सनातन है, हर व्यक्ति स्वयं अपने लिए तय करता है।

यह पुस्तक भारत में तो पढ़ी ही जाए, विदेशों में भी पढ़ी जाए इसलिए इसका अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए।

पुस्तक का नाम : **कौन देस को वासी : वेणु की डायरी**

लेखिका : सूर्यबाला

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.

मूल्य : 399/-

संपर्क : उषा वर्मा

33 Eastfield Crescent, Badger Hill,
YORK, YO10 5HZ, UK.,

Mob. : 07403373789

समय के दुष्चक्र को भेदती कविताएँ

अनवर सुहैल

कविता प्रतिरोध का सांस्कृतिक हथियार है और निराशा के इस दौर में आशा की खिड़कियाँ भी खोलती हैं। हम जिस युग में जी रहे हैं, वहाँ दुश्मन परंपरागत तरीके से सीधे प्रहार नहीं कर रहा है। (बल्कि अपसंस्कार और दबंगई से कारपोरेट जगत की मदद से हमारी विविधता की संस्कृति को अंधराष्ट्रवाद के औजारों से दमन के नित नए रास्ते खोल रहा है)। हमारे बनाए नारे हमारी जुबानों से छीनकर खुद उन्हें बुलंद कर रहा है। हमारे सांस्कृतिक धरोहरों और पूर्वजों को गुपचुप अपनाकर ही अपना हित साध रहा है। और इन सबके साथ फासिज्म का एक नया नामकरण कर दिया गया है 'विकास' इस विकास की जुगाली इतनी की जा रही है कि उनका विरोध विकास-विरोध के रूप में दर्ज हो जाता है। विध्वंसकारी ताकतें इतनी उद्दंड हो चुकी हैं कि असहमति दर्ज करने वालों पर राष्ट्रद्रोह के मुकदमें चलाये जा रहे हैं। बेशक, बेहद चक बकियाया है वह समाज जो व्यवस्था के विरुद्ध सहज असहमति दर्ज कराता है। ये सोचकर कि उसके विचारों का आदर होगा और लोकतांत्रिक ढाँचे में उस असहमति की गूँज से आमजन के हितार्थ सुनवाईयाँ होंगी, लेकिन भूमंडलीकरण के इस दौर में सत्ता समर्थित अंध धार्मिकता द्वारा राष्ट्रवाद की चादर ओढ़कर जो गुल खिलाए जा रहे हैं, उससे प्रतिरोधी स्वर दमन के शिकार हो रहे हैं। गालियों का मुकाबला विचारधाराएं कर सकती हैं, लेकिन सत्ता समर्थित गोलियों से स्तब्ध है, पूरा का पूरा समाज।

ऐसे विकट समय में 'अचानक कबीर' की कविताएं ढाढ़स बंधाने का प्रयास करती हैं। जनवादी गजलों और कविताओं के सर्जक अनवर शमीम का यह दूसरा कविता संग्रह है। इस संग्रह में छोटे कलेवर की पठनीय कविताएं हैं। इन में बौद्धिक विलास का उपक्रम नहीं बल्कि सहज संप्रेषणीयता की चाशनी है। अनवर शमीम का रचना संसार झारखंड के धनबाद से बरवाडीह के आसपास का समाज है जो कि देश के वृहद समाज का सैंपल है। इस समाज में रेल मजदूर, अल्पसंख्यकों की बस्तियाँ वंचित जनों के दुख-दर्द, मध्यवर्ग की रोजमर्रा की उलझनें, स्त्रियाँ और किसान शामिल हैं। अनवर शमीम कम शब्दों में बड़ी बात कहने में सिद्ध-हस्त हैं और शायद इसीलिए मेरे प्रिय कवि हैं। पाठकों से बतियाती कविताएं इसीलिए खास होती हैं कि ये सीधे कनेक्ट होती हैं। और देर तक दिल-मन की गहराइयों में डूबती-उतरती रहती हैं। संवाद करती एक कविता देखें - ' गिरानी (महंगाई) में नाच', आठ टुकड़ों की शृंखला

की पहली कविता - 'उसने कहा/धत्त,ई गिरानी में नाच/और लगा नाचने.....।'।

वाकई उपभोक्तावादी विश्वग्राम में आमजन एक ग्राहक से बढ़कर कुछ नहीं और कार्पोरेट संचालित सरकारों के लिए बस एक वोटर। यही ग्राहक गैर-जरूरी वस्तुओं की मार्केटिंग और महंगाई की मार से कितना प्रभावित है, इसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

‘उसके पाँव / थिरकते नहीं / कांपते हैं/
आँखें बोलती नहीं सिर्फ रोती हैं / माथे पर उभर
आई हैं / उदासी की कई- कई लकीरें/यह कैसा
नाच है ?’

कवि की चिंता आमजन की जिजीविषा के साथ है -

‘इस जीवन विरोधी समय में / एक-एक
पल से लड़ता-भिड़ता / वह नाच रहा है / जीवन
के लिए ’

इस महंगाई में नाचने को अभिशप्त आमजन उस ‘घिसी हुई चवन्नी की तरह है जो अब चलन के बाहर है’

बहुत ही गहरा विद्रूप रचती कविता, जिसमें समय का सच एक नई लड़ाई लड़ने को प्रेरित करता है, लेकिन ये भी है कि प्रतिरोधी स्वर भी इस बाज़ार की भेंट चढ़ चुके हैं। एक बाजार जिस्म में भी है जो बाहर के बाजार से हारा हुआ है। इस समय आमजन के विरोधी भी आमजन ही हैं, जिसे कवि ने इस तरह लिखा है -

‘शायद, हवा के खिलाफ हवा’ ,जब ऐसा समय हो तो लड़ाई परंपरागत तरीकों से नहीं लड़ी जाएगी। वर्चस्ववादी की बलजबरी आंधी का मुकाबला करने का हुनर न तो सरकारों के पास है और न किन्हीं एनजीओ के पास है। अन्य संस्थाएं भी हो सकती थीं लेकिन वो धार्मिक श्रेष्ठता के भावबोध पर इंसानों को फासीवादी/

जिहादी पर तुली हुई हैं। बेरोजगारी, बीमारी, अशिक्षा और कुपोषण से जूझती का इलाज धर्म की अफीम से करने का प्रयास अपनी नाकामियों से बचने के लिए सरकारें करती रहती हैं। ऐसे समय में कविता की जिम्मेदारियां बढ़ जाती हैं। हिंदी कविता आज जिस फार्म पर पाठकों से संवादरत है वह स्तुत्य है। नए-नए मुहावरों से लैस भाषा ताजगी कविता को एक नया आयाम देती हैं। ‘अचानक कबीर’ की कविताएं इस मोर्चे पर खरी उतरती हैं। समय की तर्जुमानी करती एक कविता — ‘हम समय के /उस चौमुहाने पर खड़े हैं/जहां दिशाएं चुप हैं...’ इस खामोशी की जुबान को शब्दों के गिलाफ में लपेटकर रखने का हुनर ही कविता है।

समय के बलवान बाहुबली ‘राजा’ के प्रति जन-आक्रोश को कितनी खूबसूरती से बयान किया गया है-‘काठ का राजा’ कविता में- ‘और अंधेरे में सोचता है / कि यहाँ के बच्चे / क्यों नहीं चाहते/खेलना राजा के साथ / क्यों नहीं माँ से कहते / कि माँ मुझे राजा चाहिए...’ राजा नामक सत्ता से अरुचि या घृणा को प्रदर्शित करती पंक्तियां आज के समय का सच है कि अधिकांश नागरिक समाचार चैनलों पर काबिज राजा के दिव्य दर्शन के प्रति उदासीन हैं और रिमोट से टीवी बंद कर देते हैं।

दलित चाची को समर्पित कविता ‘चाची की टिकुली’ बड़ी मार्मिक है- ‘ वे मुझे रोकते थे/ मत जाना सुअरों के पास / मत छूना उन्हें / लेकिन मैं सुअरों के साथ खेलते हुए / कब उनकी दुनिया से / हांक दिया गया / इसका सही इतिहास भूल गया हूँ...’

एक प्रसिद्ध लेखिका से बात हो रही थी तो उन्होंने मुझे बताया कि हमें बचपन में समझाया जाता था कि मुसलमान गंदे होते हैं, बुरे होते हैं,

झगड़ा लू होते हैं और हिंसक भी होते हैं... सो उनसे दोस्ती न करना। तो ऐसी बातें बचपन से ही इंसान के अवचेतन में घर कर जाती हैं जो ताउम्र व्यक्ति के साथ जुड़ी रहती हैं। अनवर शमीम इन प्रश्नों के उत्तर भी अपनी कविताओं में खोजते हैं। इन कविताओं में स्त्री, लड़की, माँ, चाची, घर, मैं, दरवाजे, स्वेटर, चिड़िया जैसे प्रतीक - पात्र कविता की सृजनात्मकता को एक नया आयाम देते हैं।

‘चावलों के बीच / खाने वालों का / स्वाद बिगाड़ने के लिए / छुपे बैठे हैं कंकड़-पत्थर / सदियों से औरत / पूरी मुस्तैदी के साथ / इन्हीं कंकड़ों-पत्थरों से जूझ रही है...’

‘एक डरे हुए शहर का सच’ कविता में नागरिक जीवन भयावह त्रासदी को बहुत कम शब्दों में कुछ यूँ समेटा है अनवर शमीम ने - ‘हर रात / किसी दुत्कारे हुए / आदमी की तरह / उजाड़ हो जाता है शहर / कितने भारी - भरकम हैं / आतंक के पाँव..’

‘शहर में धोबी’ के लिए प्राकृतिक स्रोतों से पानी का कम से कम होते जाना एक बड़ी समस्या है। ये समस्या पशु-पक्षियों और जन-जीवन की रोजमर्रा की गतिविधि के लिए भी एक बड़ा संकट बनकर उभरा है। पर्यावरण संरक्षण के प्रति कवि की सजगता इस कविता में दृष्टव्य है- ‘घाट की सीढ़ियों पर / कच-कच हरी / मगर सूखी काई / पानी की मौत का किस्सा बयान करती है / नापती है / धोबी का घटता हुआ कद/साफ करती है / उदासी का कारण...’

जाने क्यों अक्सर ऐसा लगने लगता है कि संसार में अच्छे लोगों की कमी होती जा रही है। अवांछित आबादियाँ और बेशर्म दबंग धरती पर प्रदूषण की तरह फैलते जा रहे हैं। अच्छे लोगों की खोज और उनको स्थापित करने की योजनाएं किसी सरकार के पास नहीं हैं। अच्छे लोग धीरे-धीरे खामोश होते जा रहे हैं। बड़ी

विडंबना है कि इस मतलब परस्त दुनिया में अच्छे लोगों को सम्मानित करने की संस्थाएं कम से कमतर होती जा रही हैं। कविताएं इन अच्छे लोगों की तलाश में भटकती हैं और ‘बूढ़े का वायलिन’ कविता जन्म लेती है। ये बूढ़ा भी समय की बेदरदी से बेचैन है- ‘उफ, इस दुनिया में / कुछ बहुत-बहुत खतरनाक लोग हैं / जो एक सुर / एक ताल / एक लय के खिलाफ हैं..’

समय से कवि खफा है। हर सहृदय इंसान इस समय की कठोरता से खफा है। कवि अपने विचार कुछ इस तरह जाहिर करता है - ‘किसी ऊल-जुलूल समय में / कुछ लोग / पागलों की तरह / ईश्वर से कर रहे थे/दुनिया बचाने की प्रार्थना...’ इस संग्रह की एक और बेशकीमती कविता है ‘अयोध्या’। अयोध्या जहां पिछले चार दशकों से सत्ता की चाभी छुपी हुई है। अयोध्या जिसे किसी शहर की तरह नहीं बल्कि एक एजेंडे की तरह याद किया जाता है। अनवर शमीम ने चंद पंक्तियों में अपनी बात कही है-

‘अयोध्या / एक शहर / एक सच / एक मुस्कान / एक आतंक / एक तलवार / एक त्रिशूल / एक घायल कबूतर / एक डरा हुआ बाबर / एक सहमा हुआ राम...’

ऐसी ही छोटी-छोटी कविताएं एकबारगी पाठक के अचेतन को झकझोरती चलती जाती हैं। इतने कम शब्दों में इतनी गहरी बुनावट की कविताएं हिन्दी में आ रही हैं तो मन आश्चर्य होता है कि लाख बुरा चाहो कविताएं जिंदा रहेंगी। कविताएं इंसानी समाज में आस्था, विश्वास, प्रेम, जीजीविषा और सहृदयता की अलख जगाती हैं। कविताएं समय की नब्ज थामकर बीमारी का इलाज करती हैं। बेशक ये रूहानी इलाज होता है। कविता के रूप में रचे जाते रहेंगे शब्द और इसी तरह बचाते रहेंगे पृथ्वी।

कवि के लोक में शामिल है रेलवे कालोनी जहाँ बच्चे हैं ‘रेल-रेल’ का खेल और वहीं पनपता

रहता है प्रेम भी....' रेलवे कालोनी में/ प्रेम / किसी गूंगे का / इशारा नहीं / एक जोगी की / बजती हुई / सारंगी है..'

और ऐसे ही प्रेम को समर्पित एक कविता का अंश देखें...'एक हत्यारे की / मुट्ठी में कैद है / प्रेम की / एक खुशरंग तितली..'

कवि एक साथ आशावादी भी है और अचानक निराशा के जाल में जा फंसता है। यही समय की नजाकत है। यही समय का दुष्पक्र है। कवि भी तो आखिर इस समय की उपज है, वह अपने समय की सही तर्जुमानी करने के लिए अभिशप्त है।

झारखंड के जंगल और वनवासियों के दुख-दर्द से कवि अछूता नहीं है। लोक-धर्मिता की आंच में पगी कविता 'लय में लिपटा विलाप' इसका प्रमाण है। जहाँ सखुआ के पत्तों से दोना बनाती आदिवासी बुढ़िया का आजीविका के लिए निरंतर संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। दोना बनाती वृद्धा की उंगलियां जामुनी हैं और 'चेहरे पर झुर्रीदार भूख का साया है', गजब की कविता है ये। उस वृद्धा की थकी आँखों में भूख को मात देने का जुनून छिपा है। कवि कोई मूकदर्शक भर नहीं होता बल्कि अपने जीवन संघर्षों को, आपदाओं को, परेशानियों को भी अपनी कविताओं में मूर्त करता रहता है। आदिवासियों की उन्नति और उत्थान के लिए एक नया राज्य बनता है झारखंड, लेकिन इस राजनीतिक प्रक्रिया का लाभ सत्ता, पूंजी, दलाल और नौकरशाहों को मिलता है। आदिवासी सदियों से अपने वजूद और भूख के सवाल से जूझता रहता है।

कबीर हिंदी जगत में एक ऐसा प्रतीक है जिसे भुलाना आसान नहीं है। कबीर जिसे याद करना भी आसान नहीं है। हाँ, कबीर को गाना-गुनगुनाना, कबीर को पूजना और कबीर की हंसी उड़ाना आसान है। अनवर शमीम कवि कबीर को याद करता है तो जैसे कबीर युगपुरुष बनकर आते हैं और कबीरी ठाठ से आकर्षित कवि रमना चाहता है लेकिन समय की आपाधापी उसे विचलित कर देती है —

'कबीर ने मुझे आदमी बनाने की भरपूर कोशिश की / आदमी तो नहीं बन सका / होड़ की आड़ लेकर / घुड़दौड़ में जा मिला / और बस / आदमी-सा दिखता भर रहा'

इस संग्रह की तमाम कविताओं से गुजरते हुए मैं ने पाया कि कवि संघर्ष करता है लेकिन टूटता नहीं है और न तो कविताओं से हताश होता है। उसे मालूम है कि कविताएं ही मानव-मुक्ति की राह में मशाल जैसी हैं। कवि चाहता है कि विपरीत समय में भी मनुष्य की मुक्ति के गीत गाते रहना चाहिए। इस संग्रह में बार-बार कवि खुद को संघर्ष की राह धकेलता रहता है और उम्मीद की किरणों की खोज में भटकता रहता है। पेश है 'जंगल' शीर्षक छोटी-सी कविता-

'मैं रोऊंगा नहीं / बांसुरी बजाऊंगा / जंगल / तुम्हारे लिए / हांका लगाऊंगा / शोर मचाऊंगा / एक-एक हरे पत्ते को जगाऊंगा / अंतड़ी के दुखने तक गाऊंगा',

बेशक, ये कविताएं इंसान को बेहतर समाज बनाने की प्रेरणा देंगी और संघर्ष-पथ चलते रहने को उकसाती रहेंगी।

पुस्तक का नाम : 'अचानक कबीर'(कविता संग्रह)
लेखक : अनवर शमीम
प्रकाशक : नयी किताब

संपर्क : अनवर सुहेल
मिल्लत कालोनी, वासेपुर, धनबाद -
826001(झारखंड), मो. : 09798355202

समाज की यात्रा करने वाली कहानियाँ

डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी

जनाब अखलाक सागरी अपनी गजल में लिखते हैं-

'नफस नफस पे अजल का खुटका अजीब जीना है आदमी का।

बहुत बड़ी कशमकश है लेकिन बड़ा कलेजा है आदमी का।'

आदमी ही जिनकी रचनाधर्मिता के केंद्र में हो, ऐसे कहानीकार राम नगीना जी के पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित सभी कहानी-संग्रह पाठक को कहानी कहने की उत्तरोत्तर परिपक्वता और सरसता का आभास करा रहे हैं। आलोच्य कहानी संग्रह 'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' 2020 के इस विभीषिकापूर्ण कोरोना काल में जीवन की निरंतरता, अपराजेयता और स्वाभाविकता की स्फूर्ति से लबरेज है। इस महामारी का प्रकोप जहां मानव के हौसलों को परत करने पर तुला है, वहीं नगीना जी की कहानियां जीवन को अपने स्वाभाविक छंद में लाने की पहल है। कहानियों के माध्यम से भारतीय घरेलु परिवेशगत यथार्थ को उकेरा गया। अधिकतर कहानियां किसी यात्रा की पृष्ठभूमि में कलमबद्ध की गई हैं, परंतु ये यात्राएं पर्यटन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती, बल्कि अपने चिर-परिचित नगर-मुहल्ले, सामान्य रेल-यात्राओं, नाई की दुकान पर लगी गपशप की झड़ी, सड़क के किनारे पराठें और चाय के खोमचेवाले की जद्दोजहद, वृद्ध की परेशानियों और अकेलेपन, सड़क की पुलिया पर बैठे आमजनों की बातचीत के सफर का प्रामाणिक दस्तावेज है। कहानीकार आम जन की संवेदना, चिंता, सोच, हँसी-ठिठोली को शब्दबद्ध करना चाहते हैं। आपकी कहानियों के पात्र आम होते हुए भी पाठक के बीच से ही चुने गए हैं। राजनीतिक दांवपेंच, काल्पनिक उड़ान और किसी विमर्श विशेष के पचड़े से मुक्त आपकी रचनाएं साधारण भारतीय जनजीवन का आइना है। पर आम भारतीय को प्रभावित व नियंत्रित करने वाले राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक परिवेश का समावेश अवश्य मिलता है।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आपकी कहानियां कई किस्सों, घटनाओं और प्रसंगों को बड़े जतन से पिरोकर समाज की उम्मीद, आशा-निराशा के झकोलों का चित्र आँकती हैं। आम जनजीवन का रचनाकार आम समाज के वार्तालाप में पूरी हिस्सेदारी निभाता है। मौर्य जी ने अपनी प्रत्येक कहानी में साधारण लोगों की बातचीत को पूरा स्पेस दिया है। साधारण भारतीय के लिए उसका पारिवारिक जीवन उसके मन-मिजाज, कार्य-प्रणाली और जीवन-शैली पर खासा प्रभाव छोड़ता है। तभी तो आपकी कहानियों में पति-पत्नी की नौक-झोंक, रोमांस और मिठास, विश्वास और साथ चलने की ख्वाहिश को दर्ज

किया गया है। पत्नी जीवन संगीनी के रूप में पुरुष को कितना नियंत्रित करती और संभालती है, उसके सुख-दुख का कितना ख्याल रखती है, अपनी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को साझा करती है, ऐसे कई मधुर किस्से इन कहानियों की विशेषता है। अहम बात है आपका किस्सागोई स्टाइल। पाठक को अपना हमसफर बनाते हुए आप बड़ी बेतकलुफी से कहानियों का माजरा बयान करते चलते हैं। पाठक कभी-कभी स्वयं को एक पात्र-सा महसूस करने लगता है। संप्रेषणीयता की यह चरम पराकाष्ठा आपके अन्य कहानी संग्रहों से विकसित होती हुई इस संग्रह तक आती-आती सफलता को छू चुकी है।

अब आपकी कहानियों की कथाभूमि पर भी थोड़ी बात कर ली जाए। 'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' कहानी में आपने पूरी रोचकता और सूक्ष्मता के साथ पैसेंजर ट्रेन में सफर करने वाले यात्रियों की गतिविधि, दृष्टि और एक नव दंपति के प्रति उत्सुकता को बयान किया है। एक नई दुल्हन और उसके युवा पति के बीच का सामंजस्य और फिक्र लेखक को तब और भा जाता है जब वे लखनऊ स्टेशन पर उतरकर देखते हैं कि चेहरे को धूँघट से ढककर यात्रा करने वाली उनकी सहयात्री नवविवाहिता वास्तव में एसिड अटैक सर्वाइवर है। भारतीय रेल में सहयात्रियों के साथ पेश आने के तौर-तरीकों को अंकित करने में आलोच्य कहानी ने कमाल की कुशलता का परिचय दिया है। 'रोटेशन सिस्टम से' कहानी एक फैंटसी के आधार पर निर्मित नएपन से लैस रचना है, जिसमें घर के निर्जीव फर्नीचर की आपसी बातचीत आम भारतीय के जीवन की परेशानियों, आर्थिक दिक्कतों और पारिवारिक माहौल के उतार-चढ़ाव का कच्चा-चिढ़ा खोलती है। कहानी इस यथार्थ को बखूबी बयान करती है कि घर को सजाने-संवारने के लिए खरीदे जाने

वाले सामान के लिए आम भारतीय परिवार किसी निर्णय तक पहुंचने से पहले कितना मोल-भाव करता है, कितनी दुकानों के चक्कर काटता है, कितने दुकानदारों की वाक्पटुता का शिकार होता है। ये किस्से केवल पाठक के मनोरंजन के हितार्थ पेश नहीं किए गए, बल्कि कहानीकार की मंशा मध्यमवर्गीय भारतीय की जरूरतों और आर्थिक क्षमता के बीच बनाए जाने वाले संतुलन को उभारना है। वृद्ध विमर्श पर कहानियों की सूची निर्मित करने पर आपकी 'उन्होंने नाम नरेश 'समथिंग' बताया था' का स्थान पहली पंक्ति में अवश्य होगा। कहानी में एक वृद्ध की चिंता, परेशानी, शारीरिक अक्षमता, पारिवारिक दिक्कतें, बच्चों की अवहेलना, ऑफिस से अपने हक के स्पेस लेने के लिए वर्षों से लगाए जाने वाले चक्करों से होने वाली हताशा का बड़ा मर्मांतक चित्रण किया गया है। यह समाज बुजुर्ग पीढ़ी की कितनी उपेक्षा करता है। पर यह बुजुर्ग पीढ़ी अपनी तमाम उलझनों के बावजूद जीवन-युद्ध में हारने से इनकार करती है और उनकी यही जिजीविषा और अटूट जीवन-शक्ति उक्त कहानी को संग्रह की सर्वाधिक मर्मात्मक और प्रभावशाली रचना बना देती है। बुजुर्ग हमसे समय माँगते हैं ताकि वे अपनी चिंताओं और जीवन भर संजोए गए अनुभवों को साझा कर सकें, पर इस व्यस्त युवा समाज के पास उनके लिए रत्ती भर समय और सहनशीलता नहीं है। व्यंग्य चुटीला और पैना है और वर्तमान पीढ़ी द्वारा बुजुर्गों के प्रति हिकारत से भरे बर्ताव को बेनकाब करता है। संग्रह की दो और कहानियाँ जैसे 'फिर जहाज पर आयो' और 'शेष भाग आगामी अंक में' में वृद्ध चिंतन को पूरी संवेदनशीलता के साथ उजागर किया गया है। बीमारियों से जर्जर वृद्ध का शरीर जरूर विवश होता है पर उसकी सोच में इकट्ठे किए गए तजुर्बे के भंडार को क्या नकारा जा

सकता है। साथ ही आपकी कहानियों में ऑफिस के माहौल, बॉस के दबाव, सहकर्मियों के साथ सामंजस्य तथा पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ ऑफिस के काम के बोझ में संतुलन बनाए रखने की जुगाड़ को शब्द दिया गया है।

‘ठलुआ चिंतन’ कहानी में बन्ने भाई की नाई की दुकान में अपने नंबर के इंतजार में बैठे लोगों की बातचीत के माध्यम से समाज का तरोताजा हाल पाठक के समक्ष प्रस्तुत है। खास बात यह है कि मंत्री जी ने अपनी विशाल अट्टालिका के सामने रेलिंग से घेरकर गाड़ियां रखने के लिए अवैध रूप से जमीन घेर ली है, जिसे हटाने की हिम्मत प्रशासन में नहीं है पर सड़क के किनारे खोमचा लगाकर पुड़ी-कचौड़ी बेचकर (दो जून की रोटी) का जुगाड़ करने वाली एक गरीब औरत पर पुलिस-प्रशासन अपनी पूरी मुस्तैदी और कर्तव्य-परायणता दिखाते हुए सड़क पर लगने वाले जाम के नाम पर उसे निकाल देते हैं। वाह रे, भारतीय प्रशासनिक मानदंड! इसी प्रकार ‘फुटपाथ की जिंदगी’ कहानी में आपने सड़क के किनारे खोमचा लगाकर स्वादिष्ट पराठें सेंकने वाले एक प्रवासी मजदूर की मजबूरियों और उस धंधे के एवज में मुफ्त में उसे लूटने वाले अधिकारियों के नापाक कारनामों का भी पर्दाफाश किया है। गरीब इस देश में दो वक्त की दाल-रोटी के लिए जी-तोड़ परिश्रम करने के बावजूद प्रशासनिक नीतियों के सामने हारा हुआ है और उनके दर्द और संघर्ष को एक संवेदनशील रचनाकार ही महसूस कर सकता है। ‘बेचारा कीड़ा’ कहानी में आपने वर्तमान भौतिकतावादी युग में प्रेम और वफा की परिभाषाओं में आए बदलाव पर करारा व्यंग्य किया है। कहानी में कीड़े को एक प्रतीक के रूप में प्रयोग करने में कहानीकार को काफी कामयाबी मिली है। ‘से चलकर, के रास्ते, को जाते हुए’ कहानी में एक संवेदनशील कहानीकार

का रास्ते में चलती-फिरती घटनाओं से गुजरते हुए तथा अलग-अलग लोगों की बातचीत के प्रभाव को दर्शाया गया है। कभी-कभी महसूस होता है कि यह रचनाकार वास्तव में राम नगीना जी के लेखक चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। याद आता है व्यंग्य सम्राट परसाई जी का कथन कि वे सामर्थ्य रहते हुए भी प्राइवेट वाहन में सफर नहीं करते थे बल्कि आम जीवन को आत्मसात करने के लिए भीड़ भरी बसों, यात्रियों से खचाखच भरी रेलगाड़ियों में सफर तय करते थे। वास्तव में बंद कमरे में लिखने वाले लेखक की कलम में आम जनजीवन के पसीने की महक, चिंता और परेशानी की थकान और वार्तालाप का जायका कैसे आ सकता है? मौर्य जी भी इसी प्रकार जनता के बीच रहकर अपने लेखन को स्वर देने के कायल हैं। ‘तुमने कहा जो था’ में पारिवारिक जीवन में पति-पत्नी के बीच की समझ की पटरी और एक-दूसरे की आशाओं, उम्मीदों, आकांक्षाओं को अपने प्यार के जादुई स्पर्श के साथ पूरा करने की रोमानियत से पाठक आह्लादित हो जाता है। आपकी अधिकांश कहानियों में दाम्पत्य जीवन के स्वस्थ, संतुलित और स्वाभाविक प्रतिबिंब को उभारा गया है। अक्सर आपके पात्रों को लेखक के रूप में दर्शाया गया है जो जीवन की आपाधापी में से समय निकालकर लेखन का क्रम जारी रखने की सुखद अनुभूति को संजोता चलता है।

संवादों की दृष्टि से आपकी कहानी-कला में बेहतरीन प्रयोग हुए हैं। संवादों की भाषा व लहजा अत्यंत जीवंत, रोचक और विश्वसनीय है। संवाद आपकी कहानियों के विकास क्रम का मुख्य हिस्सा बन पड़े हैं। विभिन्न पात्रों के बीच विचार विनिमय से लेकर लेखक का चिंतन भी इन्हीं संवादों के माध्यम से संप्रेषित हुआ है। आपकी पूर्व प्रकाशित कहानियों की तुलना में इन कहानियों की लंबाई कुछ बढ़ी है, जिसमें लेखन

की परिपक्वता व देश-काल के प्रति आपकी समझ को पाठकों के साथ तसल्ली से साझा किया गया है। कमोबेश सभी कहानियों में आपने विद्वानों, रचनाकारों, शायरों के कथनों को उद्धृत करते हुए अपने दृष्टिकोण के लिए यथेष्ट प्रमाण जुगाड़ किए हैं जैसे- 'हाल ही में पढ़ा 'सी. मार्गेनटर्न' का यह कथन याद आया 'होम इज नॉट व्हेयर यू लिव, बट व्हेयर दे अण्डरस्टैण्ड यू।' (पृ-33)

कहानियों में अक्सर फिल्मी गानों की पंक्तियों को शामिल करते हुए उन्हें आम पाठक के लिए अधिक रुचिकर व संवेद्य बनाया गया है जैसे- 'काली घटा है, मस्त हवा है, ...झूम...झूम...झूम, झूम बराबर झूम शराबी....' 'बन्ने भाई जरा वॉल्यूम बढ़ाइएगा।' (पृ-60)

मोबाइल पर बजने वाले अलग-अलग धुनों के प्रति लेखक की सजगता मोटा-मोटी सभी कहानियों में प्रकाशित होती है। अधिकांश कहानियों के पात्रों के मोबाइल की रिंगटोन का उल्लेख करने में आपने खास दिलचस्पी दिखाते हुए वर्तमान समय के ट्रेंड का सजीव प्रमाण दिया है। उदाहरणार्थ- 'मा...र दिया जाए या छो...ड़ दिया जाय.....' 'मेरे पीछे बैठे दूसरे सज्जन के मोबाइल की रिंगटोन गूंजी।' (पृ-60)

आपकी वर्णन क्षमता ने पाठकों को बांधकर रखने की यथोचित क्षमता दिखलाई है। चाहे पात्रों का रूप-वर्णन हो, घटना स्थल का चित्रण, किसी भी मामले में आपकी कलम को शब्दों का अभाव महसूस नहीं हुआ। दूसरी ओर पात्रों के

मन के भीतर चलने वाली उहापोह से लेकर विचार-मंथन तक का जिक्र करने में आपकी लेखन-कला ने मन जीत लिया है। भाषा की दृष्टि से आपने अंग्रेजी, अरबी-फारसी, उर्दू शब्दों के साथ देशज लहजे को बनाए रखने के लिए कानपुर-लखनऊ के आसपास के इलाकों की स्थानीय बोली व बोलचाल की शैली के माध्यम से प्रदेश की जीवन-शैली को उभारा है। जैसे- "महीनन से सात लेबर काम करि रहा है, मुला कुर्सी तक जोड़य्या नांय होइ पावा। इस तरह तो हमार भट्टा बइठ जइहै जानौ....?" (पृ-58)

सार संक्षेप यह है कि आपका यह कहानी संग्रह जीवन की बहुस्तरीय व बहुकोणीय संवेदनाओं का सफल प्रस्फुटन करता है। कहानियों से पाठक का मानस जुड़ पाया है। समाज की तकलीफों के प्रति आपका साहित्यकार सजग व सचेत है। बतरस के बहाने कहानी कहने की आपकी शैली भविष्य में भी पाठकों की रुचि संपन्नता में वृद्धि करेगी। कहानीकार के शब्दों में कहें तो- आखिर, लेखक अपने आस-पास की छोटी-बड़ी घटनाओं, पात्रों, जीवनानुभवों से ही तो कल्पना और यथार्थ का मिश्रण करके सृजन करता है। मैंने उन्हें ही साक्षी भाव रखकर, उनमें कहीं ज्यादा, तो कहीं कम कतरब्योत करते, या कहीं-कहीं ज्यों-का-त्यों भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हां, घटना, पात्रों व स्थलों इत्यादि को ध्यान में रखते हुए थोड़ा-बहुत 'ह्यूमर' और 'विट' का खासतौर से ध्यान रखा है।' (अपनी बात)

पुस्तक का नाम : यात्रीगण कृपया ध्यान दें
लेखक : राम नगीना मौर्य
प्रकाशक : रश्मि प्रकाशन, लखनऊ
मूल्य : 180/-

संपर्क : डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी
2-ए, उत्तरपल्ली, सोदपुर,
कोलकाता-700110
मो. : 09433675671

श्रमशील समाज के प्रति गहरी संवेदना

जितेंद्र कुमार

कवयित्री विमल किशोर की अविकल संवेदना श्रमशील समाज के प्रति है। वरिष्ठ कवयित्री शोभा सिंह जानकारी देती हैं कि “विमल, महिला संगठन’ और विभिन्न आंदोलनों की मेरी मजबूत साथी रही हैं। वाम-जनवादी आंदोलन की जुझारू कार्यकर्ता और महिला संगठन की नेत्री रही हैं। इसलिए जनपक्षधरता का स्झान है उनमें।” कवयित्री विमल किशोर की कविताओं की भाव भूमि को समझने के लिए उपर्युक्त जानकारी प्रासंगिक है। 2014 के लोकसभा चुनाव के पश्चात भारतीय राजनीति की दिशा बदल गई है। भारतीय समाज का ध्रुवीकरण तेजी से सांप्रदायिक आधार पर हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत ने एशियाई समाज की स्थितियों के अनुसार एक नया धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य का मॉडल गढ़ा था। यह मॉडल बखूबी गतिशील और कार्यशील था। 2014 के लोकसभा चुनाव के बाद धर्म निरपेक्षता गणराज्य और लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति की अवधारणाएं क्षतिग्रस्त हुई हैं। बहुतों के लिए यह चिंता की बात है। जनता के लोकतांत्रिक अहिंसक प्रतिरोध को कुचलने की लगातार कोशिशें जारी हैं। श्रमिकों के अधिकारों में व्यापक कटौती की गई है। दुर्भाग्य से श्रमिकों के साथ स्त्रियों पर व्यापक हमले हो रहे हैं। दलितों, अल्पसंख्यकों व आदिवासियों पर हमले बढ़े हैं। मासूम बच्ची से लेकर वरिष्ठ महिलाएं बलात्कार और यौन हिंसा की शिकार हो रही हैं। इस पृष्ठभूमि में विमल किशोर जैसी वरिष्ठ सामाजिक एक्टिविस्ट महिला का कलम की सिपाही बन जाना स्वाभाविक है।

विमल अपनी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए संकेत करती हैं कि समय ऐसा आ गया है कि उम्र के इस पड़ाव पर उनको कलम गहनी पड़ी क्योंकि समय का आग्रह था, एक सार्थक हस्तक्षेप का। वे लिखती हैं - “उम्र के इस पड़ाव में/जब आंखें हो रही कमजोर/बालों में सफेदी/अंग हो रहे शिथिल..... फिर भी मन में जिंदा है/आजादी की तमन्ना; सफर जारी है।” वे आगे कहती हैं कि जब स्त्रित्व से लेकर अस्तित्व पर हमले हो रहे हैं, स्त्रियों के सपनों पर कुठाराघात हो रहा है तब उनकी जैसी स्त्री चुप कैसे रह सकती है? बुढ़ापा का बहाना बनाकर निष्क्रियता की चादर ओढ़ लेना राजनीतिक रूप से अनैतिक है। “हड्डियां कमजोर हो गई है तो क्या हुआ / अंतर में अब भी बचा है / आंसुओं के आवेग को सुनने की गुंजाइश / जीवन संघर्ष की संध्या में / जागृत हो रहा है / जवानी का जोश / मन में आक्रोश।”

विमल किशोर अपने आसपास के जीवन का अवलोकन गहराई से करती

हैं और वहीं से अपनी काव्य-वस्तु का चुनाव करती हैं। वे गटर में बिना सुरक्षा-कवच के, बिना ऑक्सीजन मॉस्क के सफाई कर्मियों को उसमें उतरते हुए देखती हैं और उन्हें लाश बनकर बाहर किए जाते देखती हैं। आजादी के इतने वर्षों बाद भी सफाईकर्मियों को गटर में घुसने के पूर्व आवश्यक पीपीई उपलब्ध नहीं कराए गए हैं। यह तात्कालिक प्रश्न नहीं है। सफाईकर्मी विमल किशोर की कविता की रचना-वस्तु बनता है। वैसे 'कामवाली', 'कूड़ा बीनते बच्चे', 'स्कली', 'रिक्शावाला' फुटपाथ पर सोने को मजबूर मजदूर - हाशिए के लोगों के लिए, 'मई दिवस', 'नीम का पेड़', 'गौरैया', 'मार' बाढ़ पीड़ित आदि उनकी काव्य-संवेदना के उपकरण हैं। कूड़ा बीनते बच्चों का दृश्यांकन तथाकथित समाजवादी लोकतांत्रिक अवधारणा पर सटीक व्यंग्य भी है। 'कामवाली' के शोषण-उत्पीड़न की ओर ध्यान दिलाना संवेदनात्मक प्रतिबद्धता का सवाल है। महानगरों में कामवालियों के ठेकेदार पैदा हो गए हैं। जिन संपन्न घरों में निजी नौकरानियां-कामवालियां चाहिए, उनको इन ठेकेदारों से संपर्क करने पड़ते हैं। लेकिन छोटे शहरों, नगरों में कामवालियों के काम के घंटे निर्धारित नहीं है। कोई छुट्टी का प्रावधान नहीं है। कार्यस्थल एक नहीं है। उनको प्रतिदिन सात-सात घंटों का काम निपटाना पड़ता है। यह काम वाली स्त्री भी घरेलू हिंसा की शिकार है। इस कविता में बहुत करुणा और संवेदना है।

**'वह रोज आती सादे लिबास में
अपने घर गृहस्ती का बोझ संभाले
सात-सात घंटों को संभालती
यही उसकी दिनचर्या थी
जिंदगी से समझौता करने की कोशिश में
अपने शराबी पति की प्रताड़ना झेलती'**

इसी तरह 'हाशिए के लोगों' की समस्याएं तात्कालिक नहीं हैं। यह कविता पूंजीवादी विकास के ढोल की पोल खोलती है। कवयित्री सही कहती हैं कि ये लोग व्यवस्था के हाशिए पर धकेल दिए गए हैं। इनका कोई आशियाना नहीं। सिर पर कोई छत नहीं। वे जीने को मजबूर हैं फुटपाथों पर।

विमल किशोर इंसानियत को शर्मसार करने वाली तात्कालिक किंतु प्रायोजित घटनाओं को भी अपनी कविता का विषय बनाती हैं। और किस बड़े कवि ने अपने समय की तात्कालिक घटना पर कविता नहीं लिखी? और आज कौन कवि नहीं लिख रहे हैं? विमल की आरंभिक दोनों कविताएं 'हवाएं गर्व है' और 'हाथ रे इंसानियत! वाह रे हिंदुत्व!' तात्कालिक घटनाओं पर ही हैं। इसके अतिरिक्त 'कासगंज', 'कारवां निकल पड़ा है', 'चिंगारिया', 'अगस्त में बच्चे मरते ही हैं', 'तीन तलाक', 'बलात्कारी सिर्फ.....' भी समसामयिक घटनाओं की काव्यात्मक प्रस्तुतियां हैं।

आदिवासी समाज की भौतिक चेतना और भोलेपन को लेकर कवयित्री विमल खासा चिंतित हैं। उनकी सरलता, निश्छलता, मासूमियत, भोलापन, ईमानदारी सचमुच सामाजिक गौरव की बात है। वही मूल्य उनकी सामाजिक पहचान है, लेकिन कोई ठग उनके इन्हीं मूल्यों का लाभ उठाकर उस समुदाय का शोषण करे दोहन करे और दुखद पहलू यह है कि अपनी मासूमियत में दोहन की प्रक्रिया को कोई समझ नहीं पाए। सामाजिक एक्टिविस्ट का कार्यभार है कि वह ऐसे शोषित समाज को नई चेतना से लैस करे। विमल इतना कहने का रिस्क लेती है कि 'पर इतनी ईमानदारी/इतनी मासूमियत ठीक नहीं।' उनकी कविता आह्वान करती है कि 'छोड़ो,

अपनी मासूमियत छोड़ो/भोलेपन से बाहर निकलो/
कठोर बनो/मुट्टिया भीचो/गोल बनाओ.....।'।
कवयित्री विमल स्वयं आत्मसंघर्ष से गुजरी है।
आत्ममंथन के आईने में अपने को देखकर वह
अपने आप से प्रश्नाकुल हैं कि 'सोचती हूं क्या
जिंदगी ऐसे ही बीत जाएगी/निरुद्देश्य?' प्रेरणाबद्ध।
उनकी प्रेरणा का स्रोत एक दिव्यांग स्त्री बनती है
'जिसके पास एक हाथ और एक पैर ही था/
उसकी जिंदगी व्हीलचेयर में सिमटी थी/पर वह
निराश नहीं थी/.... वह जब भी मिली मुस्कुराते
हुए मिली/जिंदगी में नया रंग भरते हुए मिली';
प्रेरणाबद्ध।

उपर्युक्त कड़ी में संग्रह की शीर्षक कविता
'पंख खोलूं उड़ चलूं' की व्यंजना प्रभावशाली
और प्रेरक है। इस कविता की काव्यनायिका 'मैं'
आधुनिक स्वप्नजीवी युवा स्त्री की प्रतीक है।
आज की स्वप्नजीवी युवा स्त्री अपने समय का
अतिक्रमण करना चाहती है। आधी आबादी पर

थोपे गए घर, परिवार व किचेन आदि के दायित्वों
से मुक्त होकर अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल जीवन,
समाज, राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा नीति, खोज-
अन्वेषण, विज्ञान-तकनीक हर क्षेत्र में करना चाहती
है। अंतरात्मा की आवाज को काव्य नायिका इस
प्रकार स्वर देती है:

'यह घड़ी जो मुझे बांधे है

उसे पटक दूं

सब कुछ झटक दूं

मुक्त हो जाऊँ

अपने सपनों को हवा दूं

समय से बाहर निकलूं

पंख खोलूं

और उड़ चलूं खुले आसमान में'

स्त्री को परंपरागत रूढ़ियों और जड़ताओं
से मुक्त होना है, तभी स्त्री जीवन सार्थक होगा।
'स्त्री मुक्ति' संग्रह की कविताओं का बीज-शब्द
है। कविताओं की भाषा सहज और संप्रेषण है।

पुस्तक का नाम : **पंख खोलूं उड़ चलूं**
कवयित्री: : विमल किशोर
प्रकाशक : लोकोदय प्रकाशन प्रा.
लिमिटेड, लखनऊ
मूल्य : 180/-

संपर्क : **जितेन्द्र कुमार**
मदन जी का हाता,
आरा - 802301
मोबाइल - 7979011585

इस पार तक...



वर्णमाला

मंगलेश डबराल

(16 मई 1948 -09 दिसंबर 2020)

एक भाषा में अ लिखना चाहता हूँ
अ से अनार अ से अमरूद
लेकिन लिखने लगता हूँ अ से अनर्थ अ से अत्याचार
कोशिश करता हूँ कि क से कलम या कसृणा लिखूँ
लेकिन मैं लिखने लगता हूँ क से क्रूरता क से कुटिलता
अभी तक ख से खरगोश लिखता आया हूँ
लेकिन ख से अब किसी खतरे की आहट आने लगी है
मैं सोचता था फ से फूल ही लिखा जाता होगा
बहुत सारे फूल
घरों के बाहर घरों के भीतर मनुष्यों के भीतर
लेकिन मैंने देखा तमाम फूल जा रहे थे
जालिमों के गले में माला बन कर डाले जाने के लिए

कोई मेरा हाथ जकड़ता है और कहता है
भ से लिखो भय जो अब हर जगह मौजूद है
द दमन का और प पतन का सँकेत है
आततायी छीन लेते हैं हमारी पूरी वर्णमाला
वे भाषा की हिंसा को बना देते हैं
समाज की हिंसा
ह को हत्या के लिए सुरक्षित कर दिया गया है
हम कितना ही हल और हिरन लिखते रहें
वे ह से हत्या लिखते रहते हैं हर समय ।

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

स्मृति-शेष



पानू खोलिया

13 जून 1939 - 01 जनवरी 2020

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा